२७

कलकत्ता-शास्त्रार्थ

कलकत्ता-शास्त्रार्थ

२२ जनवरी, १८८१ ई० को कलकत्ता विश्वविद्यालय के सीनेट हाल में पौराणिक विद्वानों द्वारा किये गये प्रश्नों का महर्षि दयानन्द द्वारा अन्य से लिखवाया गया उत्तर

उर्दू से अनूदित एवं सम्पादक :

प्राध्यापक राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

इस लिखित शास्त्रार्थ की खोज व प्राप्ति

[भूमिका]

वीर शिरोमणि पं० लेखराम जी के साहित्य में इस शास्त्रार्थ (रसाला एक आर्य) की चर्चा जब जब भी पढ़ता था तो इसे देखने व पढ़ने के लिए मैं मचल उठता था। उसकी खोज के लिए अथक प्रयास कर करके भी मैं न थका, परन्तु इसकी प्राप्ति न होने पर व्याकुल अवश्य हो जाता था।

कुछ वर्ष पूर्व मुरादाबाद के आर्यसमाज ने कथा के लिए बुलाया। एक दिन प्रात:काल सेवक ताला लगाकर विना बताये कहीं बाहर चला गया। मैं सीढ़ियों से नीचे उतरता व ऊपर चढ़ता रहा। यह व्यायाम कर रहा था। अकस्मात् मेरी दृष्टि समाज की गैलरी में पड़ी अलमारियों पर जा पड़ी। सोचा इन्हें देखना चाहिए। गैलरी में घुसने का मार्ग भी खोज लिया।

अलमारियों से पुस्तकें निकाल-निकालकर देखने लगा। धूल-मिट्टी झाड़-झाड़कर एक-एक काग़ज़ देखता गया। धूल-मिट्टी झाड़-झाड़कर हिम्मत न हारी। सोचा, कुछ तो आज मिलेगा ही। मेरे हर्ष की कोई सीमा न रही जब यह 'रसाला एक आर्य' वहाँ मेरे हाथ लग गई। पुस्तक पाकर मेरी मन:स्थिति क्या थी? इसे भक्तराज अमींचन्द जी की इस पंक्ति से ही कुछ प्रकट कर सकता हूँ—

गूँगे की रसना के सदृश अमींचन्द,
क्योंकर बतायें कि क्या रस उड़ाया।

इसे पाकर मुझे तत्काल रक्तसाक्षी पं० लेखराम जी व श्रद्धेय पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक का स्मरण हो आया। देर से इसे प्रकाशित करवाने की धुन में लगा रहा और यह प्रकाशित भी हो गया।

यह सभा—यह शास्त्रार्थ

'आर्य-सन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा'—कोलकाता का आयोजन विश्व-इतिहास की एक निराली घटना है। इसका आयोजन कोलकाता

विश्वविद्यालय के सीनेट हॉल में २२ जनवरी, सन् १८८१ को सायं समय किया गया था। ऋषि दयानन्द के विरोध में देश भर के मूर्धन्य पौराणिक विद्वान् वहाँ बुलाये गये। बुलाये गये की अपेक्षा **'लाये गये'** कहना अधिक उपयुक्त है। कारण यह कि स्वतः प्रेरणा से तो एक भी पण्डित नहीं आया था। सबको दक्षिणा का लोभ खींच लाया था। मथुरा के सेठ नारायणदास ने इसके लिये धन का व्यय किया था।

यह सभा कोलकाता में क्यों आयोजित की गई ? इस प्रश्न का उत्तर खोजना आज कठिन है। कोलकाता हिन्दुओं का कोई धार्मिक केन्द्र अथवा तीर्थ स्थल नहीं। यदि काशी, पुरी, मथुरा, वृन्दावन, द्वारिका, रामेश्वरम् में सभा आयोजित की जाती तो कुछ समझ में आने वाली बात बनती। लगता है कि भारत की तत्कालीन राजधानी होने के कारण कोलकाता नगरी में इसका आयोजन लाभप्रद समझा गया। इससे इसका पत्रों में प्रचार आसानी से होगा, सरकार भी ऋषि के विरुद्ध थी, उसका भी कुछ सहयोग आयोजकों को प्राप्त रहा होगा।

संसार में सब विचारकों, सुधारकों का अपने-अपने काल में उनके देश-बन्धुओं ने विरोध तो किया, परन्तु सब भागों के विद्वानों ने ऐसी सभा करके किसी भी सुधारक, विचारक का विरोध किया हो, ऐसा इतिहास में कोई उदाहरण नहीं मिलता। महर्षि दयाननद सरस्वती का व्यक्तित्व व कर्तृत्व इस दृष्टि से विलक्षण है कि उनके विरोधियों को राष्ट्रीय स्तर पर एक समारोह करके उनके विरुद्ध एक सर्वसम्मत व्यवस्था देकर उनकी महत्ता को स्वीकार करना पड़ा।

इस सभा की एक विशेषता यह रही कि इस सभा को ऋषि दयानन्द को बुलाकर उनका पक्ष सुनने का साहस ही न हुआ। सभा के समस्त निर्णय थे तो सर्वम्मत परन्तु ये निर्णय ऋषि दयानन्द की बात सुने विना ही उनकी अनुपस्थिति में लिये गये। पौराणिक दल का कैसा विचित्र न्याय है कि जिसे अपराधी घोषित किया गया उसे अपनी बात कहने का अवसर ही प्रदान नहीं किया गया।

यूरोप में भी एक ऐसी घटना घटी, परन्तु दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। ईसाई सुधारक मार्टिन लूथर पर पोप के विद्वान् शिष्यों ने वर्मज़ (जर्मनी) में अभियोग चलाकर उसके विरुद्ध व्यवस्था दी थी। परन्तु दोनों घटनाओं में सादृश्यता होते हुए भी एक विशेष भेद था। "At worms

Martin Luther was called by warrant to clear his position before the learned judges of Christiandom."[1] वर्मज़ में मार्टिन लूथर को सम्मन जारी करके ईसाइयत के विद्वान् न्यायाधीशों के सम्मुख अपना स्पष्टीकरण देने के लिये बुलाया गया।

विद्वान् पण्डित सर्वसम्मत व्यवस्था देकर बड़े गद्गद् हुए होंगे। उन्होंने समझ लिया कि वे जीत गये हैं और दयानन्द पराजित हो गया है, परन्तु ऋषि दयानन्द पर तो इस घटना का किञ्चित् मात्र भी प्रभाव न पड़ा। उन तक भी इस सभा के सब समाचार पहुँचे या पहुँचाये गये, परन्तु वे इससे घबराये, डगमगाये नहीं। वे सब-कुछ सुनकर भी यथापूर्व अकम्प रहे। वेदवेत्ता ऋषि अथर्व रहा—अडोल रहा।

भक्तों में से एक स्वामी कृपाराम जी ने उन्हें इसके बारे में सूचना देते हुए इसका उत्तर देने की विनति की। श्री स्वामी कृपाराम जी व उनके साथियों का ऋषि के नाम लिखा पत्र तो मिलता नहीं, परन्तु उनके पत्र के उत्तर में ऋषि दयानन्द द्वारा लिखा गया पत्र मिलता है। यह पत्र ऋषि के अटल ईश्वर विश्वास व आत्मबल का एक ज्वलन्त प्रमाण है। इसमें ऋषि लिखते हैं—''**कलकत्ते की सभा आदि के साथ हमको लिखने छपवाने का अवकाश नहीं, वेदभाष्य का काम बहुत है। तुम को अवकाश हो लिखो छपवाओ।**''[२]

श्रीयुत पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक ने इस पत्र के नीचे अपनी पाद टिप्पणियों में लिखा है—''इन उत्तरों का प्रत्युत्तर आर्यसमाज कलकत्ता की ओर से दिया गया। **प्रत्युत्तर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह उत्तर किस विद्वान् ने दिये हमें ज्ञात न हो सका।** इस सभा की कार्यवाही और आर्यसमाज की ओर से दिये गये प्रत्युत्तर पं० लेखराम कृत जीवन चरित में (हिन्दी सं०) पृष्ठ ६७०-३९६ तक छपे हैं।''

इसमें तो दो मत नहीं हो सकते कि कोलकाता की सभा में उठाये गये प्रश्नों के उत्तर जो श्रीराम सुब्रह्मण्य शास्त्री जी ने दिये उनका जो प्रत्युत्तर आर्यसमाज की ओर से दिया गया वह एक ऐतिहासिक महत्त्व

1. द्रष्टव्य 'Philosophy of Dayananda' by Pt. Gangaprasad Upadhyaya, para. 18.
२. द्रष्टव्य 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' सम्पादक पं० भगवद्दत्त जी, द्वितीय भाग, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ४९३।

की ज्ञानराशि है। यह प्रत्युत्तर उर्दू में '**रसाला एक आर्य**' के नाम से प्रकाशित हुआ था। इसके लेखक थे लाहौर आर्यसमाज के नेता श्री लाला साईंदास जी।

पं० लेखराम कृत ऋषि जीवन में ये प्रत्युत्तर तो छपे हैं, परन्तु पूज्य पण्डित जी ने उत्तर-प्रत्युत्तर का क्रम मूल पुस्तक से भिन्न रखा है। श्रीयुत कर्मवीर मास्टर लक्ष्मण जी ने भी अपने द्वारा सम्पादित बृहत् ऋषि-जीवन (उर्दू) में धर्मवीर पं० लेखराम जी वाला क्रम रखा है।

हमने सन् १८८४ के आसपास के 'आर्यसमाचार' मेरठ के अङ्कों में इस प्रत्युत्तर की चर्चा पढ़कर इसकी सघन खोज आरम्भ की। श्री पं० लेखराम जी के ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख है। पुराने आर्य लेखकों के उर्दू साहित्य में भी इसकी चर्चा कहीं-कहीं है।

श्रद्धेय पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक की अन्तिम वेला में हम उनका पता करने बहालगढ़ गये। तब अन्य बातों के अतिरिक्त श्री पण्डित जी ने हमें भाव-भरित हृदय से कहा—''पण्डित जी मेरी एक इच्छा तो पूरी कर दें।''

हमने कहा—''आदेश करें।''

आपने कहा—''मैं रसाला एक आर्य को देखना चाहता हूँ। उर्दू नहीं जानता, परन्तु पुस्तक दिखा दें। मुझे इसी से सन्तोष हो जायेगा।'' हमने कहा वर्षों से उसकी खोज में लगा हूँ। अभी तक तो मिला नहीं। जब मिल जायेगा तो पहले आप ही को उसके दर्शन करवाऊँगा।

इस पर ठण्डी सांस भरकर आपने कहा—''तो फिर मैं क्या देख पाऊँगा। अब तो शरीर किसी भी समय छूट सकता है। इस जन्म में देख लेता तो अच्छा ही होता।''

अब मेरे कहने के लिये कुछ शेष नहीं था, परन्तु हुआ वही जो तब पण्डित जी ने कहा था। उनके शरीर छोड़ने के कुछ ही मास के पश्चात् यह दुर्लभ पुस्तक हमें अनायास ही और धक्के से प्राप्त हो गई।

उस अन्तिम भेंट में श्रद्धेय मीमांसक जी ने बहुत गम्भीर मुद्रा में कहा—''पण्डित जी, प्रत्युत्तर पढ़कर ऐसा लगता है कि ये उत्तर लाला साईंदास जी द्वारा नहीं हो सकते। ला० साईंदास ने सम्पादन कर दिया। ये उत्तर अत्यन्त पाण्डित्य पूर्ण हैं। ऋषि जी से पूछकर ही उत्तर दिये गये

लगते हैं।''

पुस्तक में प्रकाशक का तो क्या लेखक का भी नाम कहीं नहीं दे रखा। हमारे पास पूरी पुस्तक है तथापि सम्भव है कि टाईटल पृष्ठ संख्या १ व २ (जो पुस्तक के साथ नहीं और होना चाहिये था) पर कहीं मुद्रणालय व प्रकाशक का नाम व पता होता। इतना तो निश्चित है कि पुस्तक पर लेखक का नाम नहीं छपा था।

पुस्तक पढ़ने से भी यही लगता है कि किसी प्रकार ऋषि जी से सम्पर्क करके कोलकाता की सभा की व्यवस्था के प्रत्युत्तर दिये गये। इस दृष्टि से यह शास्त्रार्थ ऋषि दयानन्द व पण्डितों के मध्य हुआ। ऋषि जी ने विरोधियों के आक्षेपों को फूँकों से उड़ा दिया।

१८६९ ई० में ऋषि ने काशी शास्त्रार्थ किया था। और यह सभा १८८१ ई० में हुई। ऋषि ने काशी में चुनौती दी थी कि प्रतिमा-पूजन के पक्ष में श्रुति का प्रमाण तो लाओ। उसके १२ वर्ष पश्चात् भी **देश भर के पण्डित कोलकाता में पाषाण-पूजा के पक्ष में श्रुति का एक भी प्रमाण प्रस्तुत न कर सके।**

यह ऋषि दयानन्द की अद्भुत दिग्विजय है। कोई भी व्यक्ति पूर्वाग्रह मुक्त होकर इस शास्त्रार्थ '**रसाला एक आर्य**' को पढ़कर हमारी बात की पुष्टि करने पर विवश होगा। यह भी पता चलता है कि ये बड़े-बड़े पण्डित वेद से कोसों दूर थे। वेदों में क्या है? इसका इन्हें ज्ञान ही नहीं था। ये लोग कर्मकाण्ड के, दर्शनों के व व्याकरण के जानने वाले भले ही हों। वेद का इन्हें नाम मात्र का ही ज्ञान था।

मेहता राधाकिशन ने लाहौर में ऋषि के उपदेशामृत का पान किया। आपने भी उर्दू में एक विस्तृत ऋषि-जीवन चरित लिखा था। उसमें इस सभा की चर्चा करते हुए लिखा है—''यह समारोह धूमधाम से हुआ। इसमें जो एक-पक्षीय कार्यवाही हो सकती थी, की गई। सभा के आक्षेपों के उत्तर एक रसाला ''**एक आर्य**'' में दिये गये हैं। यह रसाला पंजाब के आर्यसमाजों के प्राण लाला साईंदास जी प्रधान आर्यसमाज लाहौर की लेखनी से लिखित है और **एक प्रकार से वह आर्यसन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा और एक आर्य के मध्य शास्त्रार्थ है।**''[१]

---

१. द्रष्टव्य—ला० राधाकिशन लिखित ऋषि-जीवन चरित उर्दू, पृ० ३३५-३३६।

आर्यसमाज के आरम्भिक काल के एक और सुयोग्य लेखक बावा छज्जूसिंह जी द्वारा लिखित व सन् १९०३ ई० में प्रकाशित Life and Teachings of Swami Dayananda पुस्तक की भी एतद्विषयक कुछ पंक्तियाँ यहाँ देना उपयोगी रहेगा। विद्वान् लेखक ने लिखा है—

"While Swami Dayananda was at Agra, a Sabha called the Arya Sanmarg Darshini Sabha, was established at Calcutta, with the object of having it decided and settled, once for all, by the most distinguished representatives of orthodoxy in the land (that could be got hold of for the purpose of course) that Dayanand's views on Shradha, Tiraths, Idol-Worship, etc. were entirely unorthodox and unjustifiable. Sanskrit scholars and rises to the number of three hundred responded to the call of the Sabha, and a grand meeting composed of the local men and of the outsiders, came off in the Senate Hall on 22nd January, 1881. It is significant that not one of the numerous distinguished Pandits present thought of suggesting or moving that the man upon whom the Sabha was going to sit in judgement, should also, in fairness, be summoned before the august tribunal, to be condemned or acquitted after he had been fully heard. It may be urged that the Sabha was not in a humour to acquit Dayanand under any circumstances, but still he should have been permitted to have his say before he was condemned. Surely, one man could be dealt with very well by an assemblage so illustrious and so erudite. But the Pandits and their admirers were wise in their generation. Dayanand, **though one, had proved too many for still a more learned and august gathering at Benares."**[1]

इसका सारांश यह है कि जब कोलकाता में यह सभा हुई तब दयानन्द आगरा में थे। देश के शिरोमणि विद्वानों द्वारा दयानन्द के श्राद्ध, तीर्थ, मूर्ति-पूजा विषयक विचारों को सदा-सदा के लिये रूढ़ि-विरुद्ध व अनुचित घोषित करवाने के उद्देश्य से यह सभा आयोजित की गई थी। बड़े-बड़े पण्डित व सेठ, कुछ स्थानीय व बाहर के व्यक्ति भी वहाँ आये। यह बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि वहाँ पधारे पण्डितों में से एक

1. Life and Teachings of Swami Dayanand, Page. 39, Part-II

ने भी यह न कहा कि जिस एक व्यक्ति के विरुद्ध यह सभा बुलाई गई है, न्याय की माँग है कि उसे भी यहाँ बुलाकर सुना जाय। **परन्तु पण्डितगण बड़े बुद्धिमान् थे। वे जानते थे कि दयानन्द तो काशी की इससे भी बड़ी सभा पर अकेला ही भारी पड़ा था।** प्रकाश की एक किरण अन्धेरे पर छा जाती है।

इस पुस्तक में एक अध्याय की समाप्ति पर पाद टिप्पणी में 'रसाला एक आर्य' का लेखक लाला साईंदास जी को बताया गया है।

विनीत

राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

वेद सदन, अबोहर (पंजाब)-१५२११६

प्राक्कथन

—एक आर्य

जिस युग में किसी जाति में कोई सुधारक जन्म लेता है और जातीय सुधार का कार्य आरम्भ होता है और नवीन व प्राचीन विचार परस्पर टकराते हैं तो लोगों में एक प्रकार का टकराव, उलझाव (कशमकश) पैदा होता है। इस झगड़े से कई पक्ष बन जाते हैं। एक पक्ष तो वह है जो सुधार का समर्थक व सहायक होता है। दूसरा वह जो निजी लाभ अथवा स्वभाव के वशीभूत पुराने विचार से बन्धा रहना चाहता है। वह सुधार का विरोधी होता है। तीसरा समूह दोनों से पृथक् और दोनों में सम्मिलित रहता है। इस प्रकार प्रथम समूह का संख्या-बल आरम्भ में अति न्यून होता है और वह दूसरे पक्ष के हाथों बहुत कष्ट उठाता है। यह दु:ख=कष्ट उसको आध्यात्मिक व मानसिक लुप्त-गुप्त शक्तियों के प्रकटीकरण (अभिव्यक्ति) के लिये एक अभ्यास होता है। इस व्यायाम से वे शक्तियाँ विकसित होकर सुदृढ़ हो जाती हैं। यह एक परीक्षा की घड़ी होती है। इसमें यदि वह अविचलित और अडिग रहता है तो कष्टों की आँच से कुन्दन बन जाता है तथा अपने व्यक्तित्व में श्रेष्ठता व सौम्यता का एक ऐसा प्रभावशाली व आकर्षक उदाहरण प्रस्तुत करता है जिससे अन्ततोगत्वा दूसरे पक्ष को भी सुधार की ओर ध्यान देना पड़ता है।

यह जातीय सुधार का प्रथम चरण है। यदि यह सुधार सुदृढ़ जातीय व ईश्वरीय सिद्धान्त पर आधारित है और धीरज व कर्मठता के साथ निरन्तर आगे चलाया जाता है तो वह धीरे-धीरे समस्त जाति में फैल जाता है जिससे कुछ समय के पश्चात् लोगों के विचारों, आचार व सभ्यता में बहुत बड़ी क्रान्ति आ जाती है। एक प्रकार से जाति को सामूहिक रूप से एक नया जन्म प्राप्त होता है, परन्तु प्रथम पक्ष यदि सुधार के मार्ग में बाधक रुकावटों से बुद्धिमत्तापूर्वक सावधान नहीं होता और अपने चाल-चलन में प्रेम, पवित्रता व शान्ति का उदाहरण प्रस्तुत नहीं करता तो सुधार की सकल योजनायें धरी-धराई रह जाती हैं। इस प्रकार से सुधार-आन्दोलन की प्रगति आरम्भिक काल में सुधार के पोषकों, समर्थकों के व्यक्तिगत त्याग-तपस्या, नि:स्वार्थ यत्नों, सुनीति व सदाचरण पर निर्भर करती है।

यद्यपि आरम्भ के उनके लेख व वक्तव्य जन साधारण की रुचि के अनुरूप नहीं होते, क्योंकि उनको प्राय: ऐसे रहस्यों व तथ्यों के वर्णन करने में—उन पर बल देना पड़ता है, जिनसे लोग न्यून अथवा अधिक अपरिचित होते हैं और ऐसे विचारों व मान्यताओं का प्रतिवाद करना पड़ता है जो बार-बार के अभ्यास से उनके स्वभाव का अभिन्न अंग बन गये होते हैं। यद्यपि इनसे निजी भड़ास का निकालना व किसी की भावनाओं को दु:खाना अभिप्रेत नहीं होता प्रत्युत जो कुछ कहा जाता है अथवा लिखा जाता है वह पूर्णतया सहानुभूति के जोश व सत्य का प्रकाश करने के उद्देश्य से ही होता है। यह सम्भव नहीं कि इस प्रकार अन्तत: सफलता प्राप्त न हो। यह सर्वमान्य है कि **'सत्यमेव जयते'**। ईश्वरीय सहायता सदैव सत्य के पक्षधरों को प्राप्त होती है। यह सब कुछ आज हमारी आँखों के सामने प्रकट हो रहा है। सुधार आन्दोलन के जन्मदाता व प्रेरक जाति को सुधार की ओर उभार रहे हैं। वे सत्यनिष्ठा, सद्धर्म का उपदेश तथा वेदादि सत्यशास्त्रों के सिद्धान्तों का प्रचार तथा जड़-पदार्थों, पशु-पक्षी व मनुष्य-पूजा एवं मिथ्या मान्यताओं का खण्डन करते हुए कुरीतियों तथा बुरे रीति-रिवाजों को जड़ से उखाड़ रहे हैं।

उनके सत्प्रयासों तथा ओजस्वी व्याख्यानों का परिणाम यह निकला है कि एक बहुत बड़ी जनसंख्या पवित्र सुधार कार्य से लाभान्वित हुई है। अज्ञान अविद्या की काली घटायें छिन्न-भिन्न हो गई हैं। सद्ज्ञान का सूर्य उदित हुआ है। सब ओर आर्यसमाजें स्थापित हुई हैं और हो रही हैं। इन समाजों में प्रमुख, प्रतिष्ठित व सुशिक्षित लोग प्रविष्ट हैं। दूसरी ओर प्रतिपक्ष में जैसा कि ऐसी अवस्था में हुआ करता है, बहुत कुछ खोज-पड़ताल व जोड़-तोड़ काम कर रहा है। विरोध करने में कोई कमी छोड़ी ही नहीं। यहाँ-वहाँ सभायें (आयोजित) की गईं। पुस्तकें लिखी गईं। भाषण दिये गये। पत्रों के अंक काले किये गये और किये जाते हैं। सुधार के जन्मदाता के सम्बन्ध में कई प्रकार का दोषारोपण किया गया। किराणी की उपाधि भी दी गई। पादरियों का वेतन-भोगी बताया गया। **कहीं टाँग तोड़ दी गई। कहीं मृत्यु का समाचार फैलाया गया।** कहीं अधर्मी नास्तिक होने की व्यवस्था दी गई। कहीं अभियोग का भय दिखाया गया। कहीं सुधार समर्थकों की जात बिरादरियों को उभारा गया। निष्कासित करने की धमकियाँ दी गईं। कई प्रकार की शरारतें की गईं। सारांश यह

कि सुधार की लहर को रोकने के लिये सब प्रकार के षड्यन्त्र रचे गये। परन्तु इस प्रकार से सुधार कहाँ रुकता है। **विरोध, शत्रुता तो सुधार के सगे-सम्बन्धी या सखा-सखी हैं।** इनसे सुधार योजनाओं की पूर्ति में पूरी-पूरी सहायता मिलती है। यह विरोध न हो तो सुधार की गति मन्द व बन्द हो जाय।

वैर-विरोध के कारण उसको अपनी उन्नति व उत्थान पर गौरव है। अतः सुधार के राजकीय विद्रोह को रोकने का निश्चय करना सर्वथा भूल व भ्रम है, परन्तु यह तभी है जब सुधार समर्थकों की भावनायें शुद्ध हों, प्रेममय व्यवहार हो और उद्देश्य जन कल्याण हो। अब तक सुधार की लहर को रोकने के लिये इसके विरुद्ध जो कुचालें चली गई हैं इनसे इसकी गति में कुछ भी अन्तर नहीं आया प्रत्युत वह निरन्तर आगे ही आगे बढ़ती चली गई है। अभी इन दिनों भारत की राजधानी कलकत्ता में **आर्य सन्मार्ग सन्दर्शनी** नाम से एक भव्य सभा का आयोजन किया गया। **इसके आयोजन से तो उसका गौरव और वैभव और भी बढ़ गया।** विरोध में की गई प्रत्येक कार्यवाही के प्रत्येक बिन्दु पर विचार करना तो एक निरर्थक कार्य है। स्पष्ट ही है कि उससे कुछ भी लाभ होने वाला नहीं है, परन्तु यह तर्क **आर्य सन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा** की कार्यवाही पर चरितार्थ नहीं होता क्योंकि वह कार्यवाही कुछ सामान्य प्रकार की कार्यवाही नहीं समझी जा सकती।

यह सभा जिसमें भारत के विभिन्न भागों के लगभग ३०० तीन सौ प्रकाण्ड पण्डितों के अतिरिक्त अनेक प्रतिष्ठित सेठ भी सम्मिलित हुए थे। एक प्रकार से यह हिन्दुओं के धार्मिक वकीलों की एक अखिल भारतीय पञ्चायत थी और इसके अतिरिक्त उस कार्यवाही में सब विवादस्पद विषयों पर किया गया वादविवाद अंकित है। ऐसी बृहत् सभा की ऐसी कार्यवाही के बारे में विचार-विमर्श करना लाभरहित नहीं है। यही कारण है कि हमें लेखनी उठाने की आवश्यकता अनुभव हुई और इस रसाला (पुस्तक) के लिखने की प्रेरणा हुई। वह कार्यवाही 'आर्य दर्पण' पत्रिका से अक्षरशः आगे दी जाती है और उसके पश्चात् उसका उत्तर लिखा जायेगा। क्योंकि इस पुस्तक का लेखक एक आर्य—एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का मानने वाला है, इसलिये इस पुस्तक का नाम भी **'एक आर्य'** रखा गया है।

आर्य सन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा कलकत्ता और

स्वामी दयानन्द सरस्वती का सिद्धान्त

सबको ज्ञात हो कि २२ जनवरी सन् १८८१ ई० को रविवार के दिन सायंकाल सेन्ट हाल कलकत्ता में वहाँ के श्रीमन्त बड़े-बड़े लोगों और प्रसिद्ध पण्डितों ने एकत्र होकर यह सभा दयानन्द सरस्वती जी की कार्यवाहियों पर विचार करने के उद्देश्य से आयोजित की थी। इस सभा का विस्तृत वृत्तान्त हम **'सार सुधा निधि'** पत्रिका से नीचे अंकित करते हैं। इस सभा के व्यवस्थापक पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न जी कालेज के प्रिंसिपल थे। इस सभा में पण्डित तारानाथ तर्कवाचस्पति, जीवानन्द विद्यासागर बी०ए० और नवदीप के पण्डित भुवनचन्द्र विद्यारत्न आदि बंगाल के लगभग तीन सौ पण्डित और कानपुर के पण्डित बाँके बिहारी वाजपेयी और यमुना नारायण तिवारी और वृन्दावन के सुदर्शनाचार्य जी और तञ्जौर (मद्रास प्रैज़ीडैन्सी) के पण्डित राम सुब्रह्मण्य शास्त्री जिनको सूबा शास्त्री भी कहते हैं पधारे थे। इनके अतिरिक्त श्रीमन्त लोगों में वहाँ के सुप्रसिद्ध भूपति आनरेबल राजा यतीन्द्र मोहन ठाकुर सी०एस०आई०, महाराज कमल कृष्ण बहादुर, राजा सुरेन्द्र मोहन ठाकुर सी०एस०आई०, राजा राजेन्द्रलाल मलिक, बाबू जयकिशन मुखोपाध्याय, कुमार देवेन्द्र मलिक, बाबू रामचन्द्र मलिक, आनरेबल बाबू कृष्णदास पाल, लाला नारायणदास मथुरा निवासी, राय बद्रीदास लखीम बहादुर, सेठ जुगलकिशोर जी, सेठ नाहरमल, सेठ हंसराज इत्यादि कलकत्ता निवासी सेठ उपस्थित थे। यद्यपि पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर व बाबू राजेन्द्रलाल मित्र एल०एल०डी० ये दोनों महानुभाव पधार नहीं सके थे तथापि इन महानुभावों ने सभा की कार्यवाही को जी-जान से स्वीकार किया। जिस समय कि ये सब सज्जन सेन्ट हाल में एकत्र हुए तब पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न जी ने इस सभा के आयोजन करने का विशेष प्रयोजन बता करके निम्नलिखित प्रश्न प्रस्तुत किये—

प्रश्न १—पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न जी ने पहला प्रश्न यह किया कि वेद का संहिता भाग जैसा प्रामाणिक है ब्राह्मण भाग भी वैसा ही

प्रामाणिक है अथवा नहीं? और मनुस्मृति धर्मशास्त्र के समान अन्य स्मृतियाँ मानने योग्य हैं अथवा नहीं?

इसका उत्तर पं० राम सुब्रह्मण्यम शास्त्री ने यह दिया कि यजुर्वेद संहिता में लिखा है—

''यत्किंचिन्मनुरब्रवीत्तद् भेषजं भेषजतायाः''।

अर्थात् जो कुछ मनु ने कहा है, सब मानने योग्य है। इस वेद-वचन से सारी मनुस्मृति प्रामाणिक है और यदि मनुस्मृति का कोई एक भाग माना जाय तो इस मन्त्र में जो शब्द 'किञ्चित्' जिसका अर्थ 'जो कुछ' किये हैं निरर्थक हो जाता है अतः सारी मनुस्मृति को स्वीकार करना अनिवार्य है। कल्पना करो कि यदि मनुस्मृति को प्रामाणिक न माना जाय तो वह वेद भी जिसमें मनुस्मृति को मानना अनिवार्य बताया गया है, प्रामाणिक नहीं रहता। इसलिये वेद की संहिता मानने वाले को मनुस्मृति का न मानना संहिता के मानने के विपरीत पड़ता है। दयानन्द सरस्वती ने भी मनु को प्रामाणिक मानकर अपनी पुस्तक सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ३ पर ये शब्द लिखे हैं—

''प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि''। [मनु० १२.१२२]

मनुस्मृति के अध्याय ६ में लिखा है—

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतिः॥ २९॥

इस श्लोक के अनुसार ब्राह्मण भाग के अतिरक्त उपनिषद् भाग को भी वेद के समान प्रामाणिक होना सिद्ध है। यजुर्वेद आरण्यक के प्रथम अध्याय के दूसरे भाग में लिखा है—

स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्।
एतैरादित्यमण्डलं सर्वैरेव विधास्यते॥

इस वचन के अनुसार श्रुति के समान सब स्मृतियाँ भी मानने योग्य सिद्ध होती हैं। क्योंकि शब्द ''**विधास्यते**'' के अर्थ '**प्रमीयते**' के हैं अर्थात् जिससे कि यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो और भाष्यकार ने भी यही अर्थ लिखे हैं। और पं० तारानाथ तर्कवाचस्पति ने भी ऐसा ही लिखा है। **''वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्''** अर्थात् वेद धर्म की जड़ हैं और स्मृतियाँ भी वैसी ही हैं। मनु [२.६] के इस वचन के अनुसार

भी सब स्मृतियाँ प्रामाणिक सिद्ध होती हैं। इसी प्रकार बहुत-सी युक्तियों से यह बात सिद्ध होती है कि संहिता के समान ब्राह्मण भाग तथा मनुस्मृति के समान विष्णु, याज्ञवल्क्य आदि समस्त स्मृतियाँ मानने योग्य हैं तथा यही सब पण्डितों का सर्वसम्मत मत है।

प्रश्न २—पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न ने दूसरा प्रश्न यह किया कि शिव, विष्णु, दुर्गा आदि देवताओं की मूर्त्तियों की पूजा और मरणोपरान्त पितरों का श्राद्ध आदि और गंगा, कुरुक्षेत्र आदि तीर्थों व क्षेत्रों में स्नान तथा वास, शास्त्र के अनुसार उचित हैं अथवा अनुचित?

उत्तर—इसका उत्तर पं० राम सुब्रह्मण्यम शास्त्री जी ने यह दिया कि ये सब शास्त्र के अनुसार उचित हैं। इसकी पुष्टि के लिये ऋग्वेद [५.३.३] में यह लिखा है—

''तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र यत्ते जनिम चारु चित्रम्''।

इसके अनुसार शिव-लिङ्ग की मूर्त्ति की पूजा स्थापना आदि से पूजन का फल होता है। इसका भाष्य यह है—

''हे रुद्र! यत् यस्मात् तव जनिं जन्म चारु मनोज्ञं चित्रं च कर्माधीनत्वेन जीवजनिविलक्षणमित्यर्थः। अभिषेचनमस्य लिंगादिरूप-प्रतिमायामेव सम्भवात् लिंगस्य प्रतिषिद्धिः।''

अर्थात् हे रुद्र! जब आपका जन्म आपकी इच्छा पर निर्भर है तब आपका जन्म और जीवों के जन्म से विलक्षण प्रकार का है अर्थात् आप कर्मों के वश नहीं; इसलिये देवता अपने कल्याण के लिये आपके लिङ्ग की स्थापना करके उसका पूजन करते हैं। स्थापना करना विना लिङ्गादि रूपों के असम्भव है। इसलिये लिङ्गादि की मूर्त्ति का पूजना स्वयं सिद्ध हुआ और रामतापनी उपनिषद् में भी स्पष्ट लिखा है कि—

''अविमुक्ते तव क्षेत्रे सर्वेषां मुक्तिसिद्धये।
अहं सन्निहितस्तत्र पाषाणप्रतिमादिषु।
क्षेत्रेऽस्मिन् योऽर्चयेद् भक्त्या मन्त्रेणानेन मां शिव!
ब्रह्महत्यादिपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।''

अर्थात् रामचन्द्र जी शिवजी से कहते हैं कि हम तुम्हारे क्षेत्र अर्थात् काशी में सबकी मुक्ति के लिये पत्थर की मूर्त्ति में विद्यमान हैं। जो हमारी पूजा पत्थर की मूर्त्तियों में करते हैं, उनको ब्रह्म-हत्या आदि पापों से मुक्त

कर देते हैं। इसमें तनिक भी सन्देह न समझो।

बृहज्जाबाल उपनिषद् के इस वाक्य से भी कि—**शिवलिङ्ग-ससन्ध्यमभ्यर्चयेदिति।** शिवलिङ्ग की पूजा स्पष्ट सिद्ध होती है।

और मनुस्मृति के दूसरे अध्याय में भी लिखा है कि—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥ [१७६]

और देवल स्मृति में भी लिखा है—

अस्नात्वा नैव भुञ्जीत ह्यतप्ताग्निमपूज्य च।
शालिग्रामं हरे चिह्नं प्रत्यहं पूजयेद् द्विजः॥
भास्करं गणपञ्चास्मिां शंखञ्चैव सरस्वतीम्।
महालक्ष्मीं महादुर्गां नित्यं विप्राणामर्चयेत्॥
शालिग्रामशिलातीर्थे पिबेद्यो मनुजोत्तमः।
तस्य पापानि नश्यन्ति ब्रह्महत्यादिकानि च॥

और ऋग्वेद के गृह्य परिशिष्ट में भी लिखा है कि—''**गौरी वा गौरी-पतिर्वा श्रियः पतिर्वा स्कन्दो वा विनायको वा न्यस्ता समस्ता वा ईज्यन्ते।**''

और बोधायन सूत्र में भी लिखा है—''**महादेवं महापुरुषं वार्चयेत्।**'' इत्यादि।

इसी प्रकार और भी बहुत-सी पुस्तकों से सिद्ध होता है कि शिव, विष्णु, दुर्गा आदि की पूजा उचित है। और पूजा न करने से पाप होता है जैसा कि नीचे धर्मशास्त्र से प्रमाणित है—

यदि विप्रः सनत्स्ये हे वतार्चनाजादरात्।
स याति नरकं घोरं यावदाचन्द्रतारकम्।
सकाशादिविप्रथे प्रायश्चित्तमुदाहृतम्।
ब्रह्मकृच्छ्रं चरेदेव दिने कस्मिन् द्विजोत्तमः।
पर्णकृच्छ्रं तथा कुर्याद् वर्षत्यागे उदुम्बरम्।
शालिग्रामशिला नास्ति यत्र चैवामृतोद्भवा।
श्मशानसदृशं गेहं स विप्रः पङ्क्तिदूषकः॥

यह गौतम स्मृति के श्लोक हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि जो मूर्त्ति-पूजन न करेगा उसको जब तक कि सूर्य्य, चन्द्र व तारे स्थित हैं तब तक नरक में रहना पड़ेगा। इसका प्रायश्चित्त यह है कि यदि एक दिन पूजन न करे तो 'ब्रह्मकृच्छ्र' प्रायश्चित करे और यदि वर्ष भर न करे तो 'पर्णकृच्छ्र' प्रायश्चित करे। जिस घर में शालिग्राम की मूर्त्ति और शंख नहीं है वह घर श्मशान के समान है। जो पूजन नहीं करता वह अधर्मी (नास्तिक) हो जाता है।

इनके अतिरिक्त शास्त्री जी ने और भी बहुत-से प्रमाण प्रस्तुत किये जो पर्याप्त स्थान न होने के कारण छोड़ दिये जाते हैं। फिर यह कहा गया कि यदि स्वामी जी रामतापनी और बृहज्जाबाल उपनिषद् को कि जिनमें मूर्त्ति-पूजन का वर्णन है, इस उपनिषदों में गणना न किये जाने के कारण स्वीकार न करें तो देखो स्वामी जी ने अपनी प्रयोजनसिद्धि के लिये अपनी पुस्तक सत्यार्थप्रकाश में कैवल्योपनिषद् का प्रमाण दिया है। वह भी इन उपनिषदों से बाहर है। उदाहरण के लिये सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ३ पर लिखा है—''**स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट्। स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः।**'' कैवल्योपनिषद् को—जोकि इस उपनिषदों से बाहर है—स्वीकार कर लिया तो फिर उनको शेष अन्य उपनिषदें भी अवश्य माननी पड़ेंगी। अतः रामतापनी और बृहज्जाबाल आदि सभी उपनिषदें समान हैं। और यदि कहो कि श्रुति और स्मृति में तो मूर्त्ति-पूजन का उल्लेख है ही नहीं फिर मूर्त्ति-पूजन क्योंकर उचित हो सकता है तो यह बात ठीक नहीं है क्योंकि सामवेद के ब्राह्मण के पाँचवें अनुवाक के दसवें खण्ड में स्पष्ट यह लिखा है—''**स परन्दिवमन्वावर्तते अथ यदास्यायुक्तानि यानानि प्रवर्तन्ते देवतायतनानि कम्पन्ते देवप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति गायन्तीत्यादि।**''

इनसे देवताओं का मन्दिर और उनमें देवताओं की मूर्त्ति सिद्ध है परन्तु दयानन्द सरस्वती जी इस वचन के विषय में कहते हैं कि यहाँ देवताओं के मन्दिर और देवताओं की मूर्त्ति से अभिप्राय ब्रह्मलोक से है। स्वामी जी के यह कहने से स्पष्ट पता चलता है कि उन्होंने इस श्रुति के अर्थ लगाने में प्रसंग पर विचार नहीं किया। इस श्रुति में जो शब्द 'परन्दिव' है यदि उसके अर्थ ब्रह्मलोक लगावें तो 'अन्वेति' शब्द जिसके अर्थ 'देखकर' हैं किस प्रकार से उपयुक्त हो सकता है? क्योंकि जब दोनों

शब्दों के अर्थ मिलकर 'ब्रह्मलोक' देखकर के[१] हवन आदि शान्ति करना हुआ तब यह किस प्रकार हो सकता है क्योंकि हम इस लोक के रहने वाले ब्राह्मलोक को किसी प्रकार से नहीं देख सकते। तब हम नहीं जानते कि स्वामी जी इस श्रुति का अर्थ ब्रह्मलोक की प्रतिमा क्योंकर लगाते हैं। 'परन्दिव' शब्द का अर्थ ब्रह्मलोक कदापि नहीं है। इससे भूलोक के रहने वाले वैष्णव आदि से ही अभिप्राय है और यही अर्थ यहाँ उपयुक्त है। देखो सायणाचार्य ने भी अपने भाष्य में यही अर्थ लगाये हैं—''**सः वक्ष्यमाणाद्भुत वामधिकारी परंदिव उत्कृष्टां वैष्णवीं विशं अकीर्णं होमार्थं वर्तते प्रवर्ततदगति।**''

इस खण्ड में ''**खननात् दहनात् इत्यादि भूमिशुद्धयतेत्यंत।**'' इस लेख से पृथिवी का खोदना आदि पाया जाता है। दयानन्द स्वामी जी यह कहते हैं कि इसी अनुवाक के सातवें खण्ड में ''**स पृथिवीं अन्वावर्तते**'' यह लिखा है। इस में पृथिवी शब्द दिखलाई देता है और इससे पहले पृथिवी कहीं नहीं पाया जाता। पृथिवी शब्द का प्रयोग यहीं समाप्त हो गया। उनका यह कथन ठीक नहीं क्योंकि दसवें खण्ड में भी शब्द भूमि आया है। मनुस्मृति में भी लिखा है—

सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च।[२]
संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतीमानां च भेदकः।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च॥[३]

इन श्लोकों के अनुसार दो ग्रामों के मध्य एक देवता का मन्दिर बनाना उचित है और जो कोई पाषाण प्रतिमा उसमें न रखे उसे पाँच सौ रुपया का दण्ड अनिवार्य रूप में दिया जाय। इस विषय में स्वामी दयानन्द जी कहते हैं कि—''**प्रतिमीयते अनेनेति व्युत्पत्त्या।**'' प्रतिमा शब्द के अर्थ भार—तोलने के हैं अर्थात् भार तोलने के बाटों का नाम '**प्रतिमा**' है। स्वामी जी के इस कहने से स्पष्ट प्रकट है कि उन्होंने मीमांसा शास्त्र नहीं देखा है। देखिये पूर्वमीमांसा में रथ के बनाने वाले के सम्बन्ध में लिखा है—

'**वचनाद्रथकारस्य इत्यादि वर्षासु रथकारोऽग्निमादधीतेति।**'

१. यह अर्थ कदापि नहीं। २. मनुस्मृति ८।२४८
३. मनुस्मृति ९।२८५

वेद के इस वचन में जो रथकार शब्द है उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'**रथं करोतीति रथकारः।**' इस प्रकार व्युत्पत्ति करके इसके अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हैं, यह नहीं समझना चाहिये क्योंकि ऐसा समझने से उसके अर्थ केवल यौगिक अर्थ हो जायेंगे। इस शब्द के अर्थ शब्दकोश के अनुसार एक छोटी जाति का व्यक्ति अभिप्रेत है। यदि उसको छोड़ करके इसके यौगिक अर्थ अर्थात् रथ का बनाने वाले लिये जायें तो चारों वर्णों के लोगों से अभिप्राय हो जाता है। इसलिये पूर्व मीमांसा के कर्त्ता जैमिनि ने भी यह निर्णय दिया है कि जहाँ कोष के अर्थ होते हों तो वहाँ यौगिक अर्थ न लिये जायें। अतः '**प्रतिमा**' शब्द के शब्दकोष में दिये गये अर्थ—पाषाण मूर्त्तियों के अतिरिक्त और कोई यौगिक अर्थ नहीं होंगे। कोष के अर्थ छोड़कर यदि यौगिक अर्थ लें तो—'**अग्निर्नष्टः अग्निरुत्पन्नः**' इत्यादि इन वाक्यों में शब्द अग्निमयति की व्याख्या से अग्नि शब्द के विशेष अर्थ जलाने को छोड़कर इन्द्र इत्यादि देवताओं के भी समझे जायेंगे। क्योंकि (यौगिक तो) यही अर्थ हो सकते हैं। अतः देवताओं की मूर्त्ति और उनकी पूजा करना सब श्रुतियों व स्मृतियों के अनुसार उचित है।

यजुर्वेद में श्राद्ध—यजुर्वेद संहिता में श्राद्ध के विषय में यह लिखा है कि—''**निवीतम्मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितृणाम्**'' इससे प्राचीनावीत अर्थात् यज्ञोपवीत को दाहिने कन्धे पर करके पितृकर्म करना प्रकट होता है। इसमें जो ''**पितृणां**'' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है उससे मरे हुए माता-पिता का श्राद्ध पाया जाता है। जब एक व्यक्ति जीवित है तो उस समय उसका केवल एक पिता होता है परन्तु मरणोपरान्त पिता के समान पितामह, प्रपितामिह को भी शास्त्रानुसार '**पितृणां**' कह सकते हैं। अतः इस वेद-वचन में जो '**पितृणां**' शब्द आया है उससे मृतकों का श्राद्ध ही अभिप्रेत है। देखो, ''**मृतांस्तु समतिक्रम्य चाण्डालः कोटिजन्मसु**'' स्मृतियों में भी इसका यह अर्थ है कि जो मृतकों का मरने के दिन श्राद्ध नहीं करता है वह सहस्रों पीढ़ियों तक चाण्डाल की योनि में उत्पन्न होता है। उपरोक्त वचन देवल स्मृति का है। मनु भी लिखते हैं—

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान्।
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम्॥ [३.१२२]

अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को अमावस्या के दिन अपने पिता इत्यादि का श्राद्ध करना अत्यन्त आवश्यक है। और ''**न निवर्त्तयति यः श्राद्धं**

प्रमोतपितृको द्विजः। इन्दुक्षये मासि प्रायश्चित्ती भवेत्तु सः॥'' जो ऐसा नहीं करता वह ऐतरेय स्मृति के इस वचन के अनुसार पापी होता है। अतः यह बात सुस्पष्ट होकर निर्णीत हो गई कि मृतकों का श्राद्ध श्रुति व स्मृति दोनों के अनुसार विहित है। ऋग्वेद संहिता में तीर्थ के विषय में लिखा है—

''सितासिते सरितौ यत्र संगते तत्र प्लुतासो दिवमुत्पतन्ति। ये वै तन्वा विसृजन्ति धीराः ते जनासोऽमृतत्वं भजन्ते।'' यत्र गंगा च यमुना च यत्र प्राची सरस्वती। इमम्मे गंगे यमुने [ऋ० १०.७५.५] इत्यादि।

इसमें यमुने-गङ्गे इत्यादि शब्दों से स्पष्ट होता है कि गंगा इत्यादि तीर्थों पर स्नान से स्वर्ग प्राप्त होना और पाप से छूटना अभिप्रेत है।

मनुस्मृति में लिखा है—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गंगां मा कुरून् गमः॥[१]

इसका अर्थ यह है कि झूठ बोलने के पाप से छुटकारा पाने के लिये गंगा स्नान व कुरुक्षेत्र में वास करना चाहिये।

तीर्थ क्षेत्रों के बारे में रामायण, महाभारत इत्यादि में और बहुत-से प्रमाण हैं। अतः गंगा आदि का स्नान और कुरुक्षेत्र आदि का वास श्रुति व स्मृति दोनों से सिद्ध है।

इसके पश्चात् श्रीतारानाथ तर्कवाचस्पति ने मूर्त्तिपूजन को उपनिषदों के अनुसार सिद्ध करना आरम्भ किया। उनका व्याख्यान बहुत बढ़ने लगा और उधर सायं समय भी होता जाता था। इस कारण से महेशचन्द्र न्यायरत्न ने तारानाथ जी को एक चिट्ठी लिखकर दिया कि यद्यपि इस विषय पर कई दिन तक बोल सकते हैं परन्तु आज समय बहुत थोड़ा और कार्य अत्यधिक है। यद्यपि तारानाथ जी ने बहुत कुछ कहना था परन्तु महेशचन्द्र जी के कहने से अपना व्याख्यान समाप्त करके कहने लगे कि अभी मुझे इस विषय पर बहुत कुछ कहना शेष है।

तीसरा प्रश्न

पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न जी ने तीसरा प्रश्न यह किया कि **अग्निमीळे**

१. मनुस्मृति ८।९२

इत्यादि मन्त्र में **''अग्नि''** शब्द से परमात्मा अभिप्रेत है अथवा आग?

उत्तर—इसके उत्तर में पं० सुब्रह्मण्यम शास्त्री ने कहा कि इस मन्त्र में जो **''अग्नि''** शब्द आया है उससे जलाने वाली आग अभिप्रेत है। यदि इसके यौगिक अर्थ करें तो पूर्व मीमांसा के **''रथकाराधिकरणवत्''**— इस सूत्र के विरुद्ध हो जाता है। अतः इस मन्त्र में अग्नि शब्द का अर्थ (जलाने वाली) आग ही है।

चौथा प्रश्न

पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न जी ने चौथा प्रश्न यह किया कि अग्निहोत्र इत्यादि यज्ञ के करने का प्रयोजन (उद्देश्य) जल-वायु की शुद्धि है अथवा स्वर्ग की प्राप्ति?

उत्तर—इसका उत्तर पं० सुब्रह्मण्यम शास्त्री ने यह दिया—

'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत।'

आदि यजुर्वेद के मन्त्रों से अग्निहोत्र आदि यज्ञ स्वर्गसाधक हैं।

पाँचवाँ प्रश्न

पं० महेशचन्द्र जी ने पाँचवाँ प्रश्न यह किया कि वेद के ब्राह्मण भाग का निरादर करने से पाप होता है अथवा नहीं?

उत्तर—इसका उत्तर देते हुए पं० सुब्रह्मण्यम शास्त्री ने कहा कि यह तो हम प्रथम प्रश्न के उत्तर में कह चुके हैं कि ब्राह्मण भाग भी वेद ही है फिर ब्राह्मण भाग का अपमान करने से मानो वेद का ही अपमान हुआ। मनु ने वेद के अपमान के बारे में लिखा है—

ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कोटसाक्ष्यं सुहृद्वधः।
गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट्॥[१]

अर्थात् सुरापान करने वाले को जो पाप होता है, वही पाप वेद की निन्दा करने वाले को होता है।

इसके पश्चात् राम सुब्रह्मण्यम शास्त्री ने **'दयानन्द कण्टकोद्धारक'**[२] पुस्तक जो इन्होंने लिखी है सबको सुनाई और उसके पश्चात् पण्डितों

१. मनुस्मृति, ११-५६

२. 'आर्य सन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा' के आयोजन के समय तक यह पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी। पाण्डुलिपि ही पढ़कर सुनाई गई थी। —'जिज्ञासु'

की सम्मति लेनी आरम्भ हुई। निम्नलिखित पण्डितों ने सर्वसम्मति से हस्ताक्षर कर दिये।

(स्थान अभाव से यहाँ नाम नहीं लिखे गये)[१]

यह सारा वृत्तान्त 'आर्य दर्पण' पत्रिका से लेकर यहाँ दिया गया है। केवल सम्पादक की सम्मति छोड़ दी गई है। अब इसके आगे इसका क्रमवार उत्तर दिया जाता है।

आर्य का प्रथम उत्तर

प्रथम हमारी सत्यान्वेषिणी सभा में यह प्रमाण प्रस्तुत किया गया—

''यत्किंचिन्मनुरब्रवीत्तद् भेषजं भेषजतायाः।''

यद्यपि जो बात इस वचन से सिद्ध होती है उस पर हमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु इसे जो यजुर्वेद संहिता का वचन बताया गया है यह सर्वथा असत्य है। यह वचन यजुर्वेद संहिता के चालीसों अध्यायों में कहीं भी नहीं है। सम्भवतः यही कारण है कि इसका अता-पता कोई भी नहीं दिया गया। मनुस्मृति में जो वेदों का वार-वार वर्णन आया है और उनके पठन-पाठन का निर्देश किया गया है उससे स्पष्ट होता है कि वेद मनुजी के काल से पहले ही विद्यमान थे फिर समझ में नहीं आया कि किस विचार और किस प्रयोजन से उपर्युक्त वचन को यजुर्वेद का बताया गया है। वेदों में मनुस्मृति का उल्लेख होने की क्या आवश्यकता थी? क्या वेद अपने आप में अधूरे (दोषयुक्त) थे कि उनकी पूर्ति मनुजी पर छोड़ी गई थी? आश्चर्य तो इस बात पर है कि आर्यसन्मार्गसन्दर्शिनी सभा में से किसी ने चूँ तक नहीं की और पं० सुब्रह्मण्यम शास्त्री जी मद्रासी का कथन विना किसी तर्क के स्वीकार कर लिया गया।

हमारी यह भोली सभा सम्भवतः इससे अपरिचित है कि ऐसे मिथ्या कथन से स्वामी दयानन्द के उपदेशों का खण्डन नहीं होता प्रत्युत उनको और बल प्राप्त होता है। वास्तव में उपर्युक्त वचन साम ब्राह्मण का है जिसमें यह जताया है कि कर्मकाण्ड के विषय में जो कुछ मनुजी ने कहा है वही औषधि की भी औषधि है। भला यदि उसे ब्राह्मण का ही प्रमाण कहा जाता तो इसमें क्या बुराई थी? तर्क का तर्क और सत्य का सत्य। वास्तव में मनुजी ने जो कुछ कहा है उसको तो हम स्वीकार करते हैं

१. मूल पुस्तक में ही यह वाक्य छपा है।

परन्तु जो बातें उसमें मनुजी के पश्चात् स्वार्थी लोगों द्वारा मिला दी गई हैं उन्हें स्वीकार करने में हमें आपत्ति है। जो व्यक्ति मनुस्मृति को ध्यानपूर्वक पढ़ेगा उसे निश्चय हो जायेगा कि उसमें बहुत-सी ऐसी बातें पाई जाती हैं। कुछ स्थानों पर तो परस्पर विरोध की-सी स्थिति उत्पन्न हो गई है। उनकी कुछ चर्चा आगे यथा-स्थान की जायेगी।

वेद का संहिता भाग जैसा माना जाता है ब्राह्मण भाग भी वैसा ही मानने योग्य है अथवा नहीं?

यह प्रश्न अशुद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें एक दार्शनिक भूल है जिससे शास्त्रार्थ का वास्तविक विचारणीय प्रयोजन सर्वथा नष्ट हो जाता है अथवा कोई शास्त्रार्थ का विषय निश्चित ही नहीं होता है। यदि ब्राह्मण वेद का भाग है तो कोई कारण नहीं कि वह संहिता के समान प्रामाणिक न माना जाय। दोनों पक्षों में विवाद का विषय तो यह है कि जैसे संहिता वेद मानी जाती है वैसे ही ब्राह्मण ग्रन्थ भी मानने योग्य हैं अथवा नहीं? अतः अच्छा होता यदि यह प्रश्न इन शब्दों में प्रस्तुत किया जाता कि ब्राह्मण ग्रन्थ भी संहिता भाग के समान ही वेद हैं अथवा नहीं, या जैसी संहिता (स्वतः प्रमाण) मानी जाती है वैसे ही ब्राह्मण ग्रन्थ भी (स्वतः प्रमाण) स्वीकार करने योग्य हैं या नहीं? यह प्रश्न अत्यावश्यक है और इसके विषय में आजकल बहुत कुछ चर्चा हो रही है। इधर तो स्वामी दयानन्द जी ब्राह्मणों को वेद का भाग नहीं मानते। उधर राजा शिवप्रसाद जी सितारेहिन्द ने स्वामीजी के खण्डन में एक पुस्तिका लिख मारी है। हमारे देश के पण्डित कुछ और ही गीत गा रहे हैं। कुछ लोग न संहिता को मानें न ब्राह्मणों को। यूँ ही विवादास्पद विषय में टाँग अड़ा रहे हैं।

और राजा शिवप्रसाद भी इसी सभा में समझे जायें—कुछ एक ने तो स्वामी जी की निन्दा करना ही अपना ध्येय बना रखा है कि कदाचित् इसी से परलोक सुधर जाय। हमारी सम्मति में इस प्रश्न के निर्णय से वेदमत के मानने वालों के बहुत-से विवाद दूर हो सकते हैं। अच्छा तो यह है कि राजा शिवप्रसाद जी को भी आर्य सन्मार्ग सन्दर्शिनी सभा के पण्डितों अथवा उस सभा के सेठों की शाखा में सम्मिलित समझा जाय और फिर सबका उत्तर सामूहिक रूप से दिया जाय। राजा शिवप्रसाद जी ने इस बात को सिद्ध करने के लिये कि ब्राह्मण वेद का भाग हैं, पूर्व

मीमांसा के दो सूत्र उपस्थित किये हैं और उनकी पुष्टि पण्डित विशुद्धानन्दजी काशी निवासी व डॉक्टर टीबू ने की है। इसलिये यह आवश्यक है कि इस विषय पर विस्तार से विचार किया जाय। प्रथम हम इस विचार-विमर्श को उन्हीं सूत्रों से आरम्भ करते हैं। वे सूत्र ये हैं—

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या। शेषे ब्राह्मणशब्दः। इनका अर्थ यह बताया गया है कि वेद-मन्त्रों से जो शेष भाग है, वह ब्राह्मण है। परन्तु खेद इस बात पर है कि राजा जी ने पहले व पीछे के सूत्र सर्वथा छोड़ दिये हैं, बीच में से दो सूत्र ले लिये हैं। प्रतीत होता है कि उनका प्रयोजन स्पष्टरूप से एक व्यक्ति का खण्डन था, कुछ सत्यान्वेषण करना अभीष्ट नहीं था। यदि पूर्वापर के पूरे प्रसंग को देखकर शास्त्रार्थ के रूप में विचार करते तो कुछ बात भी बनती और उससे विहंगम दृष्टि से पढ़ने वाले पर भी कुछ सच्चाई प्रकट हो सकती थी। वास्तव में इन दो सूत्रों से राजा जी का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता क्योंकि इनमें वेद शब्द अथवा उनका पर्याय कोई अन्य शब्द नहीं आया है, प्रत्युत यदि वह आगे-पीछे के सूत्रों को ध्यानपूर्वक देखते तो इन दो सूत्रों का प्रमाण देने का कदापि दुस्साहस न करते। हम जैमिनि जी के पूर्वमीमांसा के दूसरे अध्याय के प्रथम पाद के ३० से लेकर ३७ सूत्रों तक (और इन्हीं में वे दो सूत्र हैं) नीचे देकर उनकी व्याख्या करते हैं जिससे स्पष्ट सिद्ध हो जायेगा कि आपका ब्राह्मण भाग वेद का भाग नहीं। वे सूत्र ये हैं—

विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्॥ ३०॥
अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्॥ ३१॥
तच्चोदकेषु मन्त्राख्या॥ ३२॥
शेषे ब्राह्मणशब्दः॥ ३३॥
अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः॥ ३४॥
तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था॥ ३५॥
गीतिषु सामाख्या॥ ३६॥
शेष यजुः शब्दः॥ ३७॥

पहले सूत्र संख्या ३० का भाव यह है कि दो ही अर्थात् ब्राह्मण व मन्त्र अर्थात् संहिता इन दोनों का एक ही अर्थ है। क्योंकि दोनों में एक ही प्रकार के शब्द आते हैं मानो कि इन दोनों में कुछ भेद नहीं। यह कथन आक्षेप कर्त्ता का है। दूसरे सूत्र में (३१ में) जैमिनि जी इसका उत्तर देते

हैं कि ऐसा नहीं है (अर्थात् मन्त्र व विधि एक नहीं), अपितु मन्त्र प्रयोग शक्ति से निरपेक्ष का वर्णन करता है और इससे अगले सूत्र संख्या ३२ में मन्त्र की परिभाषा व्याख्या के रूप में लिखी है अर्थात् मन्त्र वह है जो मानव हृदय में किसी वस्तु अथवा कार्य का निरपेक्ष ज्ञान उत्पन्न करता है। फिर आगे चौथे सूत्र में (३३) "**शेषे ब्राह्मणशब्दः**" में 'ब्राह्मण' (ग्रन्थ) की परिभाषा लिखी है और यह प्रथम सूत्र (३०) के आगे है, जिसमें विधि शब्द आया है। इन सूत्रों में यद्यपि अब तक वेद शब्द नहीं आया है परन्तु विषय तथा शब्दों ये यह सिद्ध होता है कि क्योंकि मन्त्रों अर्थात् संहिता में निरपेक्ष और सृष्टि की अवस्था का शुद्ध वर्णन है इसलिये संहिता ही वेद है और वेद का अर्थ भी निरपेक्ष ज्ञान है।

विधि का अर्थ ब्राह्मण है—शेष रहा विधि शब्द, सो यह ब्राह्मणों पर चरितार्थ होता है और इनमें मन्त्रों के अर्थ और विधि निषेध की व्याख्या, ऐतिहासिक घटनायें टीका के रूप में लिखी हैं। यह बात उनकी रचना, क्रम व विषयों से स्पष्ट है। जब ब्राह्मण शब्द की वास्तविकता पर विचार किया जाता है तो भी वही परिणाम निकलता है अर्थात् ब्राह्मण शब्द ब्रह्म का बताने वाला है और ब्रह्म के अर्थ वेद (वा परमात्मा इत्यादि) के हैं और जो ब्रह्म अर्थात् वेद को जानता है अथवा जिससे वेद जाना जाता है अथवा जिसमें वेद के सिद्धान्तों की व्याख्या है उसको ब्राह्मण कहते हैं। वेद के आदि भाष्यकार ब्रह्मवादी कहलाते थे तथा उनके नाम पर उनके भाष्यों का नाम ब्राह्मण रखा गया और यह नाम वास्तव में उचित है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण का अर्थ ब्राह्मणों का समूह भी है। पहले यह परम्परा थी कि जब कोई धार्मिक अथवा विधि-विधान की पुस्तक लिखी जाती थी अथवा कोई विशेष भाष्य रचा जाता था अथवा उसमें कोई संशोधन परिवर्तन किया जाता था तो किसी विद्वत् परिषद् में विचार-विमर्श के पश्चात् उसकी स्वीकृति होती थी और यह परम्परा अब भी प्रचलित है यथा श्री महाराज जी जम्मू-कश्मीर ने जो धर्मशास्त्र निर्मित करवाया है वह बहुत-से पण्डितों की सम्मति लेने के उपरान्त ही प्रकाशित किया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थ कैसे बने?

इसी प्रकार इसमें आश्चर्य नहीं कि ब्राह्मण ग्रन्थ भी अधिकारी

ब्राह्मणों की सभा अथवा परिषद् में स्वीकृत होकर प्रकाशित किये गये हों और ब्राह्मणों के नाम से प्रसिद्ध हुए। और प्रकट रूप में यह भी एक कारण है कि वे आज तक प्रामाणिक माने जाते हैं और इनका आदर मान न केवल वेदों के समान होता है प्रत्युत जनसाधारण में वेद का भाग समझे जाते हैं। अन्यथा अनुमान नहीं किया जा सकता कि ब्रह्म (वेद) का एक भाग संहिता (ब्रह्म) और दूसरा ब्राह्मण (ब्रह्म) हो। ऐसा विभाजन शाब्दिक दृष्टि से व अर्थों की दृष्टि से अनुचित व निरर्थक प्रतीत होता है। अतः ऐसी अवस्था में कोश में दिये गये ब्राह्मण शब्द के समुचित अर्थों को तजकर, उसको जो वेद के भाग पर लागू किया जाता है—इसके लिये कोई अत्यन्त सुदृढ़ कारण होना चाहिये और वह कोई है नहीं।

अब आगे चलिये। ''**अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः**'' सूत्र संख्या ३७ अर्थात् जो कुछ वैदिक नहीं वह मन्त्र नहीं, क्योंकि जो कुछ वैदिक है उसमें विभाग है। इस सूत्र में दो शब्द व्याख्या योग्य हैं, **आम्नातेषु,** जो एक दूसरे शब्द '**आम्नाय**' से बनाया गया है। आम्नाय का अर्थ वेद है। दूसरा शब्द है **विभागः।** इसका अर्थ विभाजन है। अब यदि सूत्र के प्रथम भाग में जो निषेधात्मक शब्द दो बार आया है, उसे यदि हटा दिया जाय तो शेष यही बचता है कि जो कुछ वैदिक है, वह मन्त्र है अर्थात् मन्त्र ही वेद है और यदि यह वाक्य में जो '**आम्नातेषु**' शब्द आया है उसका अभिप्राय उन शब्दों से लिया जाय जो यज्ञ करवाने वाले ब्राह्मण यज्ञ के अवसर पर समय के अनुसार बढ़ाते, परिवर्तित करते अथवा हटाते हैं तथापि हमारा भाव नष्ट नहीं होता।

दूसरा वाक्य जो युक्ति के रूप में प्रयुक्त किया गया है स्पष्टरूप से हमारे भाव की पुष्टि करता है। प्रथम वाक्य में कहा है कि जो कुछ वैदिक नहीं है, वह मन्त्र नहीं। दूसरे में इसका कारण बताया गया है कि जो कुछ वैदिक है उसमें विभाग है अर्थात् वैदिक ग्रन्थों का क्रम व विभाग नियत व सर्वमान्य है। उसमें दूसरे (बाह्य) शब्दों के लिये स्थान ही नहीं और इस विभाग को अगले सूत्रों में सविस्तार बताया गया है। यदि आक्षेपक यह कहे कि इस विभाग से वेदों का मन्त्र भाग व ब्राह्मण भाग अभिप्रेत है तो हम पूछते हैं कि सूत्र में ब्राह्मण शब्द अथवा उसका समानार्थक कोई अन्य शब्द कहाँ है ? प्रत्युत ब्राह्मण आदि के जो शब्द यज्ञ के अवसर पर बोले जाते हैं उनको अवैदिक घोषित किया गया है। इसके अतिरिक्त

यदि इस तर्क को मान लिया जाय तो इस सूत्र का विषय यहीं पर समाप्त हो जाता है और इससे आगे के सूत्र व्यर्थ व निरर्थक हो जाते हैं। वास्तविकता यह है कि अगले सूत्र इसी विभाग की विस्तृत व्याख्या करते हैं। ''**तेषामृग्यत्रार्थवेशन पादव्यवस्था**'' इसका अर्थ यह है, इनमें से एक ऋग् जो अर्थ योजना के अनुसार छन्दों की व्यवस्था रखता है (और मन्त्र भी है)। इस सूत्र में जो तेषां (उनमें) सर्वनाम बहुवचन में आया है वह '**आम्नातेषु**' शब्द की ओर संकेत करता है जो पहले सूत्र में लुप्त बहुवचन के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त कोई और शब्द ऐसा नहीं जिससे '**तेषां**' सर्वनाम का सम्बन्ध जोड़ा जा सके। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि प्रथम सूत्र के दूसरे वाक्य में जो वेदों के विभाग का उल्लेख है उससे यही विभाग अभिप्रेत है जो विचाराधीन सूत्र और आगे के सूत्रों में किया गया है। ब्राह्मण शब्द का इससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद की जो परिभाषा यहाँ की गई है वह किसी भी प्रकार से ब्राह्मण ग्रन्थों पर चरितार्थ नहीं होती क्योंकि **वे न तो सामूहिक रूप से छन्दोबद्ध हैं और न मन्त्र हैं।**

अगले सूत्र में सामवेद की परिभाषा दी है '**गीतिषु सामाख्या**' अर्थात् जो उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार गाया भी जाता है। ''**शेषे यजुः शब्दः**'' अर्थात् ऋग् और साम के अतिरिक्त यजुर्वेद है। इससे आगे कई सूत्रों तक निगदों पर विचार किया गया है जिनको आक्षेपकर्त्ता चौथा वेद कहता है। वह विचार हमारे वास्तविक प्रयोजन से सम्बन्ध नहीं रखता, अतः उसको छोड़ा जाता है। इसके बारे में इतना कहना ही पर्याप्त है कि उससे भी यही सिद्ध होता है कि इन समस्त सूत्रों में वेदों के वास्तविक स्वरूप पर विचार किया गया है। अतः उपर्युक्त वर्णन, लेखनशैली और स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थों के विषयों से सुस्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं प्रत्युत संहिता ही वेद है। यद्यपि इस विषय में असंख्य प्रमाण हैं परन्तु ढेर में से एक मुट्ठी नमूना अर्थात् जैमिनि जी के सूत्रों पर ही सन्तोष किया जाता है। आवश्यकता पड़ने पर और प्रमाण फिर प्रस्तुत किये जायेंगे। इन सूत्रों का प्रमाण विशेषतया इसलिये दिया गया है कि राजा शिवप्रसाद जी सितारे हिन्द ने जो इस विवाद के मानो अग्रणी हुए हैं इन्हीं में से दो सूत्रों को अपने पक्ष का आधार बनाया था तथा उनके लेख पर बहुत से अपरिचित जन अब तक गर्व कर रहे हैं। अभी कुछ समय पहले एक पौराणिक

पण्डित श्री चतुर्भुज जी ने मैडेम ब्लेवेटेस्की की 'थियासोफ़िस्ट' पत्रिका में एक नोटिस प्रकाशित करवाया है जिसमें आपने राजा शिवप्रसाद महोदय के लेख का प्रमाण देते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के वेदभाष्य को क्रय करने का निषेध किया है। वाह! इस महात्मा को कितनी दूर की सूझी! धन्य हो। धन्य हो आप ने वेदों को छुपाते-लुकाते वह अवस्था ला दी कि ईश्वर ही बचाये और अब जब दूसरा व्यक्ति वेद के प्रकाशन व प्रसार के लिये कटिबद्ध हुआ है तो ऐसा विरोध। **इस प्रकार का विज्ञापन भी आज पर्यन्त किसी पत्र-पत्रिका में देखने में नहीं आया था।**

ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों को समझने के लिये—अन्त में पूर्व मीमांसा के प्रथम अध्याय के दूसरे पाद के सूत्र ३१ से लेकर सूत्र संख्या ५३ तक भी विचारणीय हैं। इनमें आक्षेपकर्त्ता ने वेदों अर्थात् संहिता के बारे में कई आक्षेप किये हैं और जैमिनि जी ने उनके उत्तर दिये हैं। इन आक्षेपों में एक यह भी है कि क्योंकि मन्त्रों के अर्थ समझ में नहीं आ सकते इसलिये वे निरर्थक व व्यर्थ हैं। इसका एक उत्तर जैमिनि जी यह देते हैं कि **क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थ उपलब्ध हैं अतः उनके अर्थ भली-भाँति समझे जा सकते हैं।** देखिये सूत्र ५३ '**विधिशब्दाश्च**'। सारांश यह है कि सभी आक्षेपों व उत्तरों के क्रम से यह निश्चित होता है कि संहिता भाग ही ईश्वरीय ग्रन्थ है और ब्राह्मण ग्रन्थ उसकी व्याख्या हैं। हाँ! इतनी बात अवश्य है कि ब्राह्मण ग्रन्थ भी मान्य व आदर योग्य हैं परन्तु वहीं तक जहाँ तक उनका मन्त्रों से विरोध न हो। इसका निर्णय भी जैमिनि जी ने ही कर दिया है, "**मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात् प्रयोगरूपसामर्थ्यात् तस्मादुत्पत्तिदेशः सः।**" (पूर्वमीमांसा अध्याय ५, पाद १, सूत्र १६)

इसका अर्थ यह है कि विरोध की अवस्था में मन्त्र प्रधान है, क्योंकि मन्त्र स्वतः प्रमाण है और उसी से कर्म की पूर्णता होती है। अतः वह अर्थात् 'ब्राह्मण' कर्म का आरम्भ कर्त्ता है। इससे सुस्पष्ट हो जाता है कि मन्त्र को 'ब्राह्मण' पर वरीयता प्राप्त है। मन्त्र मुख्य और ब्राह्मण गौण और मन्त्र विना कर्म प्रयोग रूप सिद्धि नहीं होती। इससे हमारे आचार्यों ने मन्त्र को अन्तरंग और ब्राह्मण को बहिरंग कहा है। जैसे कि एक जान है और दूसरा हृदय। एक स्वतः प्रमाण और दूसरा परतः प्रमाण।

और जो हमारी योग्य सभा ने मनुस्मृति के निम्न श्लोक का प्रमाण

देकर उससे यह सिद्ध करना चाहा है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का उपनिषद् भाग वेद समान है इसमें वह सफल नहीं हुई।

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसद्धिये श्रुतिः॥

इस श्लोक का अर्थ यह है कि वन में रहकर इस दीक्षा और अन्य दीक्षा का सेवन करे और आत्मशुद्धि व मन की पवित्रता के लिये उपनिषदों में जो श्रुति अर्थात् वेद के मन्त्र हैं अथवा जो ब्रह्म विद्या से सम्बन्धित हैं उनका सेवन करे अर्थात् उनका स्वाध्याय करे और विचारे। ये श्लोक वानप्रस्थ आश्रम के सम्बन्ध में हैं। इसमें उपनिषद् शब्द विशेषण है और श्रुति शब्द विशेष्य अर्थात् जो श्रुतियाँ (वेद-मन्त्र) उपनिषदों में आते हैं। क्योंकि वानप्रस्थ आश्रम आत्मा की शुद्धि और मोक्ष के लिये धारण किया जाता है और उपनिषदों में इसी आशय के चुने हुए मन्त्र लिखे हैं, इसलिये मनुजी ने उन मन्त्रों की ओर विशेष ध्यान दिलाया है।

मनुस्मृति के समान अन्य स्मृतियाँ भी माननीय हैं अथवा नहीं?

इस विषय में हमारी मान्य सभा में दो वचन प्रमाण के रूप में स्वीकार किये गये और उनमें ये एक यह है—

स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्।
एतैरादित्यमण्डलं सर्वैरेव विधास्यते॥

ऐ मेरी प्यारी सभा! इसमें कहाँ लिखा है कि सब स्मृतियाँ अथवा अमुक स्मृति मानने के योग्य है। इस वचन में जो स्मृति शब्द आया है इसके अर्थ तो स्मरणशक्ति के हैं और इसको स्मृति ग्रन्थों पर कदापि लागू नहीं किया जा सकता। इस वचन के अर्थ स्पष्ट हैं अर्थात् स्मृति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य (इतिहास इत्यादि), अनुमान इन चारों से आदित्य मण्डल के भेद जाने जाते हैं। यदि यहाँ स्मृति शब्द का अर्थ समस्त स्मृति ग्रन्थ किया जाय तो यह वचन सब स्मृतियों के पीछे का बना हुआ ठहरता है परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

दूसरा वचन मनुस्मृति का है और वह यह है—

"**वेदोखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।**"[१]

---

१. मनु २। ६

ऐ मेरी अन्वेषिणी सभा! मनुस्मृति तो आदि स्मृति गिनी जाती है भला उसमें पीछे की बनी हुई स्मृतियों का उल्लेख क्योंकर आ सकता था? मनुजी ने तो एक सार्वजनिक निर्देश के रूप में एक सर्वमान्य नियम का वर्णन किया है कि वेद सम्पूर्ण धर्म का मूल है और जो वेद को जानते हैं उनकी कथनी करणी जो वेद के आदेश पर आधारित है, वह वेद जो सत्यधर्म का मूल है। अभिप्राय यह है कि समस्त धर्म का आदिस्रोत वेद ही है और जो वेदों को जानकर उसकी आज्ञाओं के पालन से अपने मन व मस्तिष्क को उज्ज्वल करते हैं और ज्ञान व आचरण का एक ज्वलन्त उदाहरण हैं—उनकी शिक्षा (उपदेश) व वाणी एवं स्वभाव व आचार भी धर्म का स्रोत है। जो लोग स्वयं वेद नहीं जान सकते वे ऐसे लोगों के उपदेश व संगति से लाभान्वित हों।

अब हम दो-एक प्रमाण उदाहरण के रूप में अपनी ओर से प्रस्तुत करते हैं ताकि वास्तविक स्थिति और भी अधिक सुस्पष्ट हो जाय। प्रथम देखिये पूर्वमीमांसा अध्याय पहला, पाद ३, सूत्र ३—"**विरोधे त्वनेपक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्।**" इसका अर्थ यह है कि श्रुति के विपरीत जो स्मृति हो वह त्याज्य है और जो अनुकूल हो वह मानी जा सकती है। वास्तव में समस्त स्मृतियों को पूरा-पूरा मानने का कोई मनुष्य दावा नहीं कर सकता क्योंकि इनमें इतने मत-वैभिन्य पाये जाते हैं कि उनका समाधान व व्याख्या कठिन है। ऐसी स्थिति में यही हो सकता है कि या तो वे पूर्णतया अस्वीकृत की जायें अथवा जैमिनि जी के इस सर्वमान्य सिद्धान्त पर आचरण किया जाय कि जो कुछ वेद व सद्बुद्धि के अनुकूल हो वह मान्य और शेष अमाननीय घोषित किया जाय। फिर देखिये मनुजी क्या कहते हैं—

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥[१]
उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यमतानि च॥[२]

इस का अर्थ है कि जो स्मृतियाँ वेद के विरुद्ध हैं और जो-जो नवीन व नास्तिक मत हैं—वे सब निकम्मे व तमोगुण से भरे हैं क्योंकि वेद के

१. मनुस्मृति, १२। ९५ २. मनुस्मृति, १२। ९६

बाहर जो वचन है वह मनुष्यकृत है और नाशवान् है अतः प्रामाणिक व मानने योग्य नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि सब स्मृतियाँ पूर्णतया माननीय नहीं हो सकतीं। हाँ, जिस-जिस वचन का आधार वेद पर हो और जो बुद्धियुक्त हो उसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते।
तत्र श्रौतं प्रमाणन्तु तयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा॥

अर्थ—जहाँ वेद और स्मृति और पुराण इन तीनों में विरोध हो वहाँ वेद ही प्रमाण माना जाता है और स्मृति और पुराण के विरोध की अवस्था में स्मृति की विशेषता है।

आर्य का दूसरा उत्तर

ब्राह्मणों व स्मृतियों के विवाद के पश्चात् अब हम दूसरे प्रश्न की ओर आते हैं कि क्या शिव, विष्णु, दुर्गा इत्यादि देवताओं की मूर्त्तियों और शिवलिङ्ग की पूजा और मरणोपरान्त पितरों का श्राद्ध इत्यादि उचित है अथवा नहीं? और गंगा व कुरुक्षेत्र इत्यादि तीर्थों के स्नान तथा वास में पाप की निवृत्ति और मुक्ति होती है अथवा नहीं?

यद्यपि इस विषय पर इससे पूर्व भी पर्याप्त वाद-विवाद हो चुके हैं और कोई भी व्यक्ति युक्तियों व शास्त्रीय प्रमाणों से किसी ऐसे दावे को सिद्ध नहीं कर सका परन्तु क्योंकि अब इन विषयों पर विवाद एक ऐसी विद्वानों की सभा में हुआ है जिसका दूसरा उदाहरण भारतीय इतिहास में नहीं मिलता। इसलिये यह उचित नहीं कि इस जमघट के निर्णय की समीक्षा किये विना इसे ऐसे ही छोड़ दिया जाय। इस पर विचार करने से पूर्व इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती—जिनके वचनों के प्रतिवाद के लिये इस सभा का आयोजन किया गया, वे इसके सम्बन्ध में क्या कहते हैं।

विदित हो कि वे अपने शास्त्रार्थों का आधार वेद आदि सत्य शास्त्रों पर रखते हैं और उन सत्य शास्त्रों को हमारी विद्वानों की यह परिषद् भी मान्य मानती है तथा स्वामी जी के लेखों में स्थान-स्थान पर इनके प्रमाण मिलते हैं। स्वामी जी कहते हैं कि सत्य शास्त्रों में मूर्ति-पूजन आदि नहीं लिखा। ऐसी अवस्था में उचित तो यह था कि उन्हीं शास्त्रों के प्रमाणों से स्वामी जी के वचनों का खण्डन किया जाता परन्तु इसके स्थान पर

इधर-उधर के प्रमाण दिये गये हैं। और यदि कहीं किसी शास्त्र का प्रमाण दिया भी है तो उससे कुछ सिद्ध नहीं होता। अब हम उत्तर आरम्भ करते हैं।

शिवलिङ्ग व मूर्त्ति-पूजन

''तव श्रिये मरुतो मर्ज्जयन्त रुद्र यत्ते जनिम चारु चित्रम्''—इस वचन से हमारी उच्च मस्तिष्क वाली सभा शिवलिङ्ग की पूजा सिद्ध करती है तथा इसका भाष्य भी प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत करती है परन्तु हमारी समझ में नहीं आता कि शिवलिङ्ग की पूजा कहाँ से निकलती है और उसको सिद्ध करने के लिये सीधे-साधे अर्थ को छोड़कर क्यों इतने कष्ट उठाये गये हैं। शब्दों के अर्थ तो स्पष्टरूप से ये हैं कि ऐ रुद्र! तेरी सृष्टि अथवा प्रकाश विचित्र चित्ताकर्षक तथा चकित कर देने वाला है। अतः देवता लोग तेरी महिमा के लिये उसको पवित्र कर रहे हैं (अथवा तेरी स्तुति व गुणगान के जयकारे लगा रहे हैं)। भला अब बताइये कि आपके भाष्यकार ने मर्ज्जयन्त शब्द पर टिप्पणियाँ की हैं, उनको कौन स्वीकार कर सकता है? क्या देवताओं का हित इसी में है कि परमात्मा की सच्ची पूजा छोड़कर लिङ्ग आदि स्थापित करके उसका पूजन गंगा आदि तीर्थों के जल से करें। वास्तव में उपर्युक्त मृजू शब्द अथवा मार्ज्ज शब्द ''मृज्'' धातु से बना है जिसका अर्थ है शुद्ध, पवित्र करना, शब्द करना व सजाना। देवता व लिङ्ग की पूजा भला कब सम्भव है? कल्पना कीजिये कि यदि हमारे अर्थ आपकी दृष्टि में ठीक नहीं तो आपको कोई और अच्छे अर्थ खोजने पड़ेंगे अथवा इस प्रमाण को ही तजना पड़ेगा। क्योंकि आजकल के देवता आपके शिवलिङ्ग की पूजा से घृणा करने लगे हैं और प्राचीन ऋषियों-मुनियों की विधि से केवल सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही की पूजा को अपनी मुक्ति का कारण मानते हैं। हाँ यदि शिवलिङ्ग से कल्याण अथवा कल्याण स्वरूप परमात्मा का अनुमान करवाने वाला, गायत्री आदि मन्त्र अथवा कोई अन्य साधन जो वेद व बुद्धि के अनुसार हो—अपनाया जाय तो उसका सेवन तीन काल क्या यदि दिन भर भी करो तो कुछ भी हानि नहीं। परन्तु यह नहीं कि जिस वस्तु का नाम लेने से सभ्य लोगों को घृणा होती हो उसका चिह्न बनाकर व्यापार के लिये उसकी पूजा की जाय।

अप्रामाणिक ग्रन्थों में भी प्रतिमा-पूजन का खण्डन है—मूर्त्ति-पूजा के विषय में अप्रामाणिक उपनिषदों व स्मृतियों आदि के जो प्रमाण

दिये गये हैं उनके बारे में विचार करना व्यर्थ है क्योंकि जब हम इन मूल पुस्तकों को ही प्रामाणिक नहीं मानते तो इनके प्रमाणों को कब मान सकते हैं। अतः ऐसे प्रमाणों को उपस्थित करना ही व्यर्थ था। इसके अतिरिक्त इन पुस्तकों में (भी) मूर्त्ति-पूजा इत्यादि के खण्डन में बहुत से प्रमाण मिलते हैं जिनका वर्णन आगे किया जायेगा। हम जैमिनि जी व मनुजी के वचनों से ऊपर सिद्ध कर आये हैं कि स्मृतियों आदि के जो वचन वेदानुकूल नहीं वे स्वीकार करने योग्य नहीं। जिस देश में और जिस घर में विद्या का प्रकाश नहीं वह निःसन्देह दीपक विहीन है। जब देह से आत्मा निकल जाता है तो वह जलाने या गाड़ने के योग्य हो जाता है। जिस आत्मा में परमात्मा का प्यार तथा सत्य की ज्योति प्रकाशित नहीं होती, वह अविद्या, अन्धकार और कष्ट में फँसी रहती है। परन्तु सद्बुद्धि इस बात को कभी स्वीकार नहीं कर सकती कि जिस घर में शालिग्राम अथवा शिवलिङ्ग नहीं वह श्मशान के समान है।

हमारी विदुषी सभा यह भी कहती है कि स्वामी जी ने अपनी पुस्तक सत्यार्थप्रकाश में अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये 'कैवल्योपनिषद्' का प्रमाण दिया है और यह दश उपनिषदों से बाहर है। अतः जब उन्होंने कैवल्योपनिषद् को स्वीकार कर लिया तो फिर उनको शेष उपनिषदें भी स्वीकार करनी पड़ती हैं। यह एक विचित्र प्रकार का तर्क है। भला! यदि हम पुराणों से मूर्ति-पूजा के खण्डन में कोई प्रमाण दें, जैसा कि हम देंगे ही तो क्या इससे यह आवश्यक हो जाता है कि हमने सब पुराणों को स्वीकार कर लिया? किसी विशेष विषय की पुष्टि अथवा सिद्धि के लिये किसी पुस्तक के किसी वचन विशेष का प्रमाण देने से यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकलता कि प्रमाण देने वाले ने उस पुस्तक को और अन्य बीसियों पुस्तकों को भी सामूहिक रूप से स्वीकार कर लिया है।

''गौरी वा गौरीपतिर्वा श्रियःपतिर्वा स्कन्दो वा विनायको वा न्यस्ता समस्ता वा इज्यन्ते।'' यह वचन भी (यदि इसके वही अर्थ लिये जायें जो हमारी प्रतिष्ठित सभा के मस्तिष्क में हैं) वैसा ही वेद की शिक्षा के विरुद्ध है जैसे कि अन्य अप्रामाणिक प्रमाण है, जिन को तर्क के रूप में दिया गया है। हमारी समझ में नहीं आता कि इतने बड़े ऋग्वेद को छोड़कर परिशिष्टों तथा टिप्पणियों की ओर क्यों ध्यान दिया गया है। यदि ऋग्वेद जिसका पाठ (अर्थात् जिसकी मन्त्र संख्या) दस सहस्र के लगभग

है और जो सृष्टि की वास्तविकता और उसकी व्यवस्था व क्रमबद्धता के सिद्धान्त की एक प्रतिलिपि है, आपके दावे का समर्थन नहीं करता तो इधर-उधर भागदौड़ करने से क्या हो सकता है? जो बोधायन सूत्र का प्रमाण दिया गया है—उसके शब्दों से तो महादेव महारुपुष अर्थात् परमात्मा की पूजा प्रकट होती है। उसमें शिवलिङ्ग आदि का कुछ वर्णन नहीं।

''स परन्दिवमन्वावर्तते अथ यदास्यायुक्तानि यानानि प्रवर्तन्ते देवतायतनानि कम्पन्ते देवप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति गायन्तीत्यादि।'' इस वचन से मूर्त्ति-पूजन कदापि कदापि सिद्ध नहीं होता और न इसमें पूजा की कुछ चर्चा है। हमको ज्ञात नहीं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी इसका क्या अर्थ करते हैं परन्तु यदि आक्षेपकर्त्ता के कथनानुसार वह इस वचन को ब्रह्मलोक से जोड़ते हैं (यद्यपि उनके ग्रन्थों व लेखों में ऐसा नहीं देखा गया) तो कुछ पाप नहीं करते। वचन के प्रसंग को देखकर यह भाव निकलता है कि वे सत्य पर हैं। यदि आपको यह अर्थ नहीं जँचते तो भला बताइये कि आप और आपके भाष्यकार ने **''परन्दिव''** शब्द के अर्थ इस भूलोक के निवासी वैष्णव आदि लिखे हैं वह क्योंकर स्वीकार किये जा सकते हैं? जब कि कोष में या व्युत्पत्ति द्वारा भी इस शब्द के ये अर्थ ही नहीं हैं, फिर समझ में नहीं आता कि वह वैष्णव आदि मत से क्यों जोड़ा गया? यदि हमारी प्यारी सभा इच्छा अथवा अनिच्छा से इन्हीं अर्थों पर दृढ़ रहना चाहती है तो अन्य मत वालों को अर्थात् यथा शिवशक्ति, गणपति, भैरव इत्यादि के उपासकों और उस सत्य वक्ता कबीर तथा ईशोपासक नानक के अनुयायियों को भी यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वे उपर्युक्त शब्द को अपने-अपने मत से जोड़ें क्योंकि सब अपने-अपने मत को उत्तम और सर्वोपरि जानते हैं। वास्तव में परन्दिव शब्द के यहाँ वे अर्थ उपयुक्त नहीं जो हमारी विदुषी सभा स्थापित करना चाहती है।

अब रही यह बात कि इस वचन में देवताओं के मकान व देवताओं की मूर्ति का वर्णन है—सो विदित हो कि इन शब्दों से देवता की मूर्त्ति का पूजन सिद्ध नहीं होता। यदि लेखक को प्रतिमा-पूजन का औचित्य सिद्ध करना अभीष्ट होता तो इस वचन में दो-एक शब्द और बढ़ाकर अपने उद्देश्य को स्पष्ट करने में क्या कष्ट था? इस प्रकार के शब्द तो उन लोगों की पुस्तकों में भी पाये जाते हैं, जो मूर्त्ति-पूजन को महापाप और

परमात्मा का निरादर मानते हैं। यथा जबराईल फ़रिश्ता और उसका मकान बेरी का वृक्ष इत्यादि। इसके सम्बन्ध में कुछ आगे भी लिखा जायेगा।

''खननात् दहनात् इत्यादि भूमिः शुद्ध्यतीत्यंतम्'' इस वचन की भी यही स्थिति है जो ऊपर के वचन की वर्णन की गई है। इसकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं। पृथिवी आदि खोदना मूर्त्ति-पूजन का कुछ प्रमाण नहीं हो सकता। अब रहा मनुस्मृति का प्रमाण—

सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च।
संक्रमध्वज-यष्टीनां प्रतीमानां च भेदकः।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च॥

इन तीनों श्लोकों में से प्रथम पंक्ति **मनुस्मृति के आठवें अध्याय के श्लोक संख्या २४८ की दूसरी पंक्ति है** जिसका अर्थ यह है कि (ग्रामों के) मिलने के स्थान पर देवस्थान बनवाने चाहियें। यहाँ कई श्लोकों में सीमाओं पर निशान लगाना व सीमा विवादों का निर्णय व सीमाओं की पहचान के चिह्न का वर्णन है। अतः उक्त श्लोक की प्रथम पंक्ति में तालाब, कूप, बावली और झरने के समानार्थक संस्कृत शब्द विद्यमान हैं जो उसी अभिप्राय से प्रयुक्त हुए हैं जिससे देवस्थान हुआ है। वास्तव में देवस्थान से अभिप्राय किसी पवित्र गृह यथा पाठशाला अथवा यज्ञशाला अथवा धर्मशाला आदि से है जिससे लोग सीमा भंग से डरते रहेंगे। और इस शब्द को मूर्ति-पूजन का प्रमाण मानना मात्र महर्षि मनु का अपमान ही तो है। ईश्वर की शरण। कहाँ सीमाबन्दी और कहाँ प्रतिमा-पूजन?

अन्तिम दो पंक्तियां मनुस्मृति के नवें अध्याय के श्लोक संख्या २८५ की हैं। इनका अर्थ इस प्रकार से है कि जो व्यक्ति पुल, ध्वज व जल के ऊपर आने-जाने के साधनों और बाटों या नापने के साधनों को हानि पहुँचाये वह पाँच सौ रुपया जुर्माना दे और उस हानि को पूरा करे। इसमें विचारणीय शब्द केवल 'प्रतिमा' है। औचित्य तो यह चाहता है कि इसके अर्थ बाट इत्यादि के हों। (इस प्रकार अगले दो श्लोकों में मिलावट करने और उनको बिगाड़ने और समान मूल्य देने वालों में से एक को अच्छी और दूसरे की बुरी वस्तु देने तथा मूल्य में हेर-फेर करने वाले आदि के लिये दण्ड निर्धारित किया गया है) परन्तु हमारी प्यारी सभा यह कहती

है कि इस शब्द के प्रसिद्ध अर्थ मूर्ति के हैं और प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर यौगिक अर्थ लेने अनुचित हैं। और इस दावा की पुष्टि के लिये जैमिनि मुनि का एक वचन भी उपस्थित किया गया है। यह युक्ति प्रकटतया कुछ महत्त्व रखती है परन्तु जो लोग किसी भाषा के साहित्य से परिचित हैं वे इसको सर्वमान्य नियम के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। अनेक स्थान ऐसे होते हैं जहाँ प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर यौगिक अर्थ लिये जाते हैं। हाँ, जहाँ प्रसिद्ध अर्थों से काम चलता हो वहाँ इच्छा अनिच्छा से यौगिक अर्थों को लेना व्यर्थ है। यही अभिप्राय जैमिनि जी का है, अन्यथा वह वचन समस्त यौगिक व व्यावहारिक अर्थ को निरस्त करने वाला होता है। हमारी भोली सभा ने जो रथकार शब्द आदि का उदाहरण देकर अपना मीमांसा का ज्ञान दर्शाया है उससे कोई निर्णायक (दृढ़) निष्कर्ष नहीं निकलता। यद्यपि रथकार शब्द के भी यौगिक अर्थ लिये जा सकते हैं परन्तु शब्द 'प्रतिमा' के यौगिक अर्थ लेने से यह आवश्यक नहीं कि इन शब्दों अथवा समस्त भाषा के शब्दों के अवश्यमेव यौगिक अर्थ ही लिये जायें। प्रत्येक स्थान पर अवसर व प्रसंग को देखा जाता है। विचारणीय वचन में औचित्य व आगे के प्रसंग से स्पष्ट सिद्ध होता है कि यहाँ प्रतिमा शब्द का अर्थ मूर्ति नहीं। यदि इसका अर्थ मूर्ति ही ले लिया जाय तो भी मूर्ति-पूजन सिद्ध नहीं होता। मूर्ति शब्द आ जाने की अवस्था में भी यह नहीं पाया जाता कि मूर्ति-पूजन का निर्देश दिया गया है। प्रत्युत उससे एक विचित्र अवस्था का पता चलता है जो प्राचीन आर्यों की महत्ता और उनके विचारों की व्यापकता व समानता की भावना को सिद्ध करती है। वह यह कि धर्मात्मा तथा न्याय प्रिय राजा व शासक लोग इस बात को उचित नहीं समझते थे कि अपने धार्मिक विश्वास को प्रजा अथवा प्रजा के किसी भाग पर बलपूर्वक लादें। प्रत्युत उनको सदा इस बात का ध्यान रहता था कि प्रत्येक जाति व प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी धार्मिक आस्था के अनुसार धार्मिक कृत्यों, रीति-रिवाजों का स्वतन्त्रता व शान्ति के साथ पालन करे और कोई उसमें बाधक न हो और इस उद्देश्य के लिये कानून बनाया जाता है। इसी बात का उदाहरण अंग्रेज़ सरकार के शुभ शासन में जो भारत के लिये एक बहुत बड़ा वरदान और अप्रत्याशित देन सिद्ध हुआ है।[१]

१. मुग़ल काल की मतांधता की तुलना में धार्मिक स्वतन्त्रता के कारण अंग्रेज़ी राज अच्छा था, यहां यह अभिप्राय है। —'जिज्ञासु'

चारों ओर स्वतन्त्रता का लाभ प्राप्त हो रहा है। धार्मिक शास्त्रार्थ व वादविवाद होते हैं। कानून एकेश्वरवादियों और मूर्ति-पूजकों का समानरूप से समर्थन करता है।

मूर्ति-पूजा बौद्धकाल से—यह तो सबको अधिकार है कि मूर्ति-पूजा को अधर्म समझें और अधर्म घोषित करें, परन्तु यह किसी को साहस नहीं कि मूर्ति को तोड़े और यदि कोई करे तो उसको दण्ड दिया जाता है। यदि विधान में मूर्ति-भञ्जन के लिये कोई दण्ड निर्धारित किया गया है तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मूर्ति-पूजा का निर्देश दिया गया है अथवा विधान निमार्ताओं अथवा प्रशासकों अथवा उनकी जाति या प्रजा मूर्ति-पूजक है। यही स्थिति महर्षि मनु के काल पर लागू हो सकती है। यदि उस समय कुछ स्वार्थी नेताओं ने अपने अज्ञानी अनुयायियों को अपने फन्दे में फँसाये रखने के उद्देश्य से मूर्ति-पूजा का कुछ प्रचार किया हो और मनुजी ने देश की परिस्थिति को देखते हुए कानून विधान निर्माताओं के रूप में मूर्ति तोड़ने के लिये दण्ड निर्धारित कर दिया हो तो इससे मूर्ति-पूजा का औचित्य सिद्ध नहीं होता। यदि ऐसा होता तो पवित्र वेद व सत्य-शास्त्रों तथा प्राचीन ऋषियों के ग्रन्थों में उसका स्पष्टरूप से वर्णन अवश्य होता परन्तु ऐसा नहीं है। **भला जब तीन सौ विद्वान् पण्डितों की सभा मूर्ति-पूजन के पक्ष में सत्य-शास्त्रों से कोई प्रमाण नहीं दे सकी तो अब और क्या आशा की जा सकती है। वास्तव में इसका प्रचलन बौद्धकाल से हुआ है।**

मूर्ति-पूजा के निषेध में प्रमाण—अतः उपर्युक्त युक्तियों से यह तो भली-भाँति निश्चित हो गया कि मूर्ति-पूजा उचित नहीं और अब उसके खण्डन में वेदों तथा उपनिषदों के कुछ प्रमाण देकर इस विषय को समाप्त करते हैं—

''न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।''[१]

अर्थ—उस परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं, उसका नाम अत्यन्त तेजस्वी है।

''स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।''[२]

१. यजुर्वेद ३२। ३ २. यजुर्वेद ४०। ८

अर्थ—वह परमात्मा सर्वव्यापक सर्वद्रष्टा, सर्वशक्तिमान्, शरीररहित, पूर्ण, नस-नाड़ी के बन्धन से रहित, शुद्ध है तथा पापों से पृथक् है।

अधन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥[१]

अर्थ—जो लोग प्रकृति आदि जड़-पदार्थों की पूजा करते हैं वे नरक में जाते हैं तथा जो उत्पन्न की हुई वस्तुओं की पूजा करते हैं वे इससे भी अधिक अन्धकारमय नरक में जाते हैं।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुख शाश्वतं नेतरेषाम्।

जो बुद्धिमान् उसे आत्मा में स्थित देखते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख प्राप्त होता है औरों को नहीं।

ततो तदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यान्ति॥

जो सृष्टि व सृष्टि के उपादान कारण से उत्कृष्ट है, वह निराकार व दोषरहित है। जो उसको जानते हैं उनको अमर जीवन प्राप्त होता है और दूसरे लोग केवल दुःख में फँसे रहते हैं।

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति,
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

अर्थ—उसी के ज्ञान से मृत्यु के पंजा से छुटकारा होता है और कोई मार्ग ध्येयधाम का नहीं है।

किसी देवता की उपासना भी उचित नहीं है। शतपथ ब्राह्मण में जहाँ तैंतीस देवताओं की व्याख्या की है (और उन्हीं तैंतीस के तैंतीस करोड़ बन गये हैं और उस सूची के पूरा होने के पश्चात् जो उसमें और गुगा पीर जैसे समय-समय पर सम्मिलित होते रहे हैं, वे इनसे अतिरिक्त हैं) वहाँ भी परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य की पूजा विहित नहीं रखी; प्रत्युत उसका खण्डन किया है।

आत्मेत्येवोपासीत। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात्प्रियं रोत्स्यतीश्वरो ह तथैव स्यात्। योऽन्यां देवतामुपास्ते न स वेद। तथा

१. यजुर्वेद ४०।९

पशुरेव स देवानाम्। —शतपथ ब्रा० का० १४, अ० ४

परमेश्वर जो सबका आत्मा है, उसकी उपासना करनी चाहिये जो परमेश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य को प्यारा अर्थात् उपास्य समझता है उसे जो कहे कि तू प्रिय के विरह में दुःख में पड़ेगा, वह सत्य पर है। जो और देवता की उपासना करता है वह वास्तविकता को नहीं जानता। वह निश्चित रूप से बुद्धिमानों में पशु सदृश है।

इन प्रमाणों की उपेक्षा करने वाली यह सभा!

हाय, खेद! इन प्रामाणिक वचनों तथा ऐसे सैकड़ों अन्य प्रमाणों की उपेक्षा करके हमारी प्यारी सभा प्रकृति पूजा को स्थापित करना चाहती है और बड़ी धूमधाम के साथ यह प्रकट करती है कि जो व्यक्ति शिवलिङ्ग व शालिग्राम की पूजा नहीं करता वह सीधा नरक को जाता है। हे मेरी महान् सभा! तेरी महत्ता व विद्वत्ता में तो किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता, परन्तु मैं इस बात पर दंग हूँ कि तेरी कार्यवाही ऐसी क्यों निकली कि उसके खण्डन करने के लिये एक साधारण व्यक्ति लेखनी उठाने को उद्यत हुआ है।

आपका भागवत क्या कहता है?

अब देखो आपका प्यारा श्रीमद् भागवत क्या कहता है—

''मृच्छिलाधातुदार्वादिमूर्तादीश्वरबुद्धयः।
क्लिश्यन्ति तपसा मूढाः परां शान्तिं न यान्ति ते।''

अर्थ—मिट्टी, पत्थर, धातु, लकड़ी इत्यादि की मूर्ति में जो ईश्वर की कल्पना करते हैं ऐसे मूढ़जन तप से केवल कष्ट भोगते हैं और वास्तविक शान्ति को प्राप्त नहीं करते।

''यस्यात्मबुद्धिः कृणुयात् ये त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः यस्तीर्थं बुधिः सलिलेन कर्हिचित् जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः।''

अर्थ—जो व्यक्ति तीन धातुओं से बने शरीर को आत्मा समझता है और स्त्री तथा पुत्र आदि को अपना समझता है और मिट्टी की मूर्ति को उपासना के योग्य मानता है और जो बुद्धिमान् मनुष्यों को तो नहीं; जल को तीर्थ मानता है, वह निश्चितरूप से गधा है।

कुछ युक्तियाँ

हमारे विचार में मूर्तिपूजा के खण्डन में जो शास्त्रीय प्रमाण ऊपर दिये गये हैं, वे पर्याप्त हैं। इससे अधिक लिखना व्यर्थ बोलना ही समझा जायेगा। अब एक-आध तर्क-सम्मत युक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं।

जैसा उपास्य वैसा ही उपासक

जैसा उपास्य होता है वैसा ही उपासक होता है, यह एक सूक्ष्म बात है जिसकी व्याख्या से विचारणीय समस्या का समाधान हो सकता है। स्पष्ट ही है कि जो गुण उपास्य में माने जाते हैं उनका प्रभाव न्यूनाधिक उपासक के व्यक्तित्व पर अवश्य पड़ता है अथवा शिक्षा-दीक्षा के कारण जैसा उपासक होता है, वैसा ही अपने उपास्य की कल्पना कर लेता है। इन बातों में कल्पना का विशेष महत्त्व होता है। यदि हमारा उपास्य क्रोधी व अन्यायी है तो उसका क्रोध व जोश और यदि स्वाभिमानी है तो उसका स्वाभिमान और यदि दयालु है तो उसकी दया का प्रतिबिम्ब हमारे आत्मा पर पड़ता है और यह प्रभाव हमारी समस्त नैतिक व मानसिक शक्तियों पर पड़ता है। इस सिद्धान्त के अनुसार जब हम यह मानते हैं कि हमारा उपास्य सत्, ज्ञानस्वरूप, आनन्दघन, शुद्ध पवित्र, सत्यस्वरूप, तेजःस्वरूप, परमस्नेही, प्राज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक, सर्वोत्कृष्ट, अनादि व अनन्त है—जैसा कि वेदों में लिखा है तो हमारे आत्मा की भीतरी शक्तियों का विकास व प्रकटीकरण होकर उसमें एक प्रकार की महत्ता, तेजस्विता, विस्तार व पवित्रता उत्पन्न होती है, जिससे हमारा समस्त आत्मिक व नैतिक जीवन आलोकित हो जाता है और जिसका फल शाश्वत आनन्द है।

यदि हम ऐसे उपास्य को पत्थर व धातु इत्यादि की मूर्ति अथवा किसी अन्य सीमित वस्तु में कल्पित करके उसको नमन करना स्वीकार करते हैं, तो परिणाम इसके विपरीत ही निकलता है। यह भी एक प्रत्यक्ष बात है कि समस्त धार्मिक व सांसारिक बातों में बुद्धि हमारी सबसे बड़ी मार्गदर्शक है। **यही कारण है कि हमारी गायत्री जो बीज मन्त्र गिनी जाती है, उसमें बुद्धि के प्रकाश के लिये ही प्रार्थना की गई है।** जिन साधनों से बुद्धि की उन्नति व सुधार हो उनको व्यवहार में लाना अत्यन्त पुण्य का कार्य है और जिस बात से बुद्धि में निर्बलता व अन्धकार उत्पन्न

हो उसको अपनाना (करना) आत्महत्या में सम्मिलित है। सच्ची ईशोपासना और सच्ची शिक्षा तथा बुद्धिमानों की संगत से बुद्धि स्वच्छ व निर्मल होती है और इसके विपरीत जड़ वस्तुओं की पूजा तथा कुशिक्षा तथा अज्ञानियों के संग से बुद्धि निर्बल व अन्धकारयुक्त होती है। अतः जड़-पदार्थों में सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कल्पना करके उनको नमन (पूजा) के योग्य बताना मानो बुद्धि को विकृत करना है। बुद्धि को बिगाड़ना आत्मघात है और आत्मघात पाप है, इसलिये सिद्ध हुआ कि मूर्ति-पूजन पाप है। सुरापान व व्यभिचार इसी कारण पाप हैं कि इनसे बुद्धि नष्ट और आत्मा अपवित्र होती है तथा दूसरे के अधिकार का हनन एवं ईश्वराज्ञा का उल्लंघन होता है फिर यदि मूर्ति-पूजन से बुद्धि का विनाश, आत्मा का पतन व ईश्वर का निरादर होता है, तो बताइये कि मूर्ति-पूजन पाप नहीं तो और क्या है? जो वस्तु जैसी हो उसको वैसा ही समझना सच्चा ज्ञान है और जड़-पदार्थों में ईश्वर-भावना करनी या करानी अथवा किसी कल्पित देवता का ध्यान करना या कराना पथभ्रष्टता और भ्रान्ति है।

मरणोपरान्त पितरों का श्राद्ध आदि

हमारी प्यारी सभा ने श्राद्ध के विषय में यह वचन प्रमाण स्वरूप उपस्थित किया है—

''निवीतम्मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितृणाम्।''

इस वचन में न तो मरे हुए माता-पिता का कुछ उल्लेख है और न श्राद्ध का शब्द आया है, फिर पता नहीं कि इससे मृतकों का श्राद्ध क्योंकर सिद्ध होता है। केवल यज्ञोपवीत का इधर-उधर करना श्राद्ध का प्रमाण नहीं हो सकता। श्राद्ध व तर्पण से जो वास्तविक अभिप्राय है—उसे हम अस्वीकार नहीं करते। हमारा आक्षेप तो यह है कि मृतकों के लिये श्राद्ध व तर्पण करना और उनके नाम से किसी वर्ग-विशेष के लोगों को विना पात्रता की परीक्षा किये अच्छे-अच्छे प्रकार का भोजन कराना व चाँदी-सोना कर के रूप में देना बुद्धि व शास्त्र के अनुसार कैसे मान्य हो सकता है? हाँ, मृतकों की स्मृति में यदि कोई परोपकार का कार्य इस प्रयोजन से किया जाय कि हमको मृत्यु का स्मरण रहे तो इसमें कुछ हानि नहीं।

हमारी सूक्ष्म विषयों पर विचार करने वाली सभा ने जो यह वर्णन किया है कि ''पितृणाम्'' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है इसलिये उससे

मृतक का श्राद्ध सिद्ध होता है, यह युक्ति ठीक नहीं जँचती। यह शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रतीत होता है कि किसी समय में वह सम्मान व उपाधि देने और उनकी योग्यता व विशेषता का वर्ग निश्चित करने के लिये प्रयुक्त किया जाता था और फिर समय व परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ वह प्रयोग लुप्त हो गया और उसके स्थान पर और-और शब्द प्रयुक्त होने लगे। अंग्रेज़ी भाषा का शब्द Father (फ़ादर) इस शब्द से एक विचित्र सादृश्यता रखता है, जिसका वर्णन रोचकता से रहित नहीं होगा। **'फ़ादर'** शब्द ''पितृ'' शब्द से निकला है और वह प्रायः उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है जिनमें पितृ शब्द का प्रयोग होता है या होता था। प्रथम शताब्दी की ईसाई मत की पुस्तकों के लेखक और रोम की सेनेट के सदस्य **''फादर''** कहलाते थे और उस समय के ईसाई मत के नेता अर्थात् पादरी लोगों तथा पहले तथा पिछले पूर्व-पुरुषों के लिये भी यही शब्द प्रयुक्त किया जाता है। यह इस बात की पुष्टि का प्रमाण है कि **''पितृणाम्''** शब्द से अभिप्राय उच्चकोटि के गुण-सम्पन्न विद्वान् और बुद्धिमान् आदि हैं। शतपथब्राह्मण में उनके आठ प्रकार लिखे हैं। वे इस प्रकार से हैं—

सोमसदः। अग्निष्वात्ताः। बर्हिषदः। सोमपाः। हविर्भुजः। आज्यपाः। सुकालिनः। यमराजाश्चेति।

१. चित्त की एकाग्रता और ज्ञान की वास्तविकता के इच्छुक **सोमसद्** कहलाते हैं।

२. अग्नि—जो समस्त पदार्थों में सर्वाधिक क्रियाशील है उसकी अवस्थाओं और गुणों का ज्ञान प्राप्त करके जो उससे अच्छी प्रकार से काम ले सकते हैं, उनको **अग्निष्वात्ताः** कहते हैं।

३. जो ज्ञान व आचरण से अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके गुणों व कलाओं में दक्षता प्राप्त करते हैं वे **बर्हिषदः** कहलाते हैं।

४. जो औषधियों के लाभ और गुणों के ज्ञान में योग्यता प्राप्त करते हैं, वे **सोमपाः** कहलाते हैं।

५. जो अग्निहोत्र आदि यज्ञों में प्रवीणता रखते हैं, वे **हर्विभुजः** कहलाते हैं।

६. जो उचित साधनों से शरीर व आत्मा की रक्षा करते हैं, उन्हें

आज्यपाः कहते हैं।

७. जो अपना बहुमूल्य समय सदा अध्यात्म व आत्मशुद्धि इत्यादि की शिक्षा व उपदेश करने में व्यतीत करते हैं, उनको **सुकालिनः** कहते हैं।

८. जो सूझबूझ व न्यायकारिता आदि में अद्वितीय हैं, वे **यमराज** कहलाते हैं।

इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त शब्द बहुवचन में ही प्रयुक्त होना उचित था। यदि इन शब्दों से अभिप्राय सृष्टि के पूर्व-पुरुषों से है तो भी **''पितृणाम्''** शब्द का सम्बन्ध मृत माता-पिता से नहीं जोड़ा जा सकता, प्रत्युत यह पाया जाता है कि विचारणीय वचन में मनुष्यों व पितरों के कर्मों में एक प्रकार का भेद किया गया है। इसी प्रकार का भेद शतपथब्राह्मण में मनुष्यों व देवताओं में किया गया है जैसा कि—**''द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः।''**

अर्थात् स्वभाव तथा गुणों की दृष्टि से मनुष्य के दो भेद हैं—देव तथा मनुष्य। जो सत्यवादी व सन्मार्ग पर हैं वे **देव** कहलाते हैं और जो झूठे व छलिये हैं, उनको **मनुष्य** कहते हैं।

पितृयज्ञ की व्याख्या—यहाँ पर यदि पितृयज्ञ की थोड़ी व्याख्या की जाय तो इससे विचारणीय विषय भली प्रकार से स्पष्ट हो जायेगा।

विदित रहे कि पितृयज्ञ के दो भेद हैं—**श्राद्ध** व **तर्पण**। श्राद्ध वह काम है जो श्रद्धापूर्वक किया जाय, अर्थात् देव, ऋषि व पितरों की सेवा। **तर्पण** से अभिप्राय है उनको प्रसन्न करना और प्रसन्न रखना तथा उनको सुख पहुँचाना। जो लोग विद्या, सुशीलता और सज्जनता में पूर्णता प्राप्त करके अपने पुण्यकर्मों से संसार में एक उदाहरण स्थापित करते हैं—वे **देव** कहलाते हैं। **ऋषि** वे हैं जो बड़प्पन व गुणों में पूर्ण योग्यता प्राप्त करके पठन-पाठन का कार्य चालू रखते हैं। **पितृ** वे हैं जो किसी वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करके, उस वस्तु में ही खो जाने का पद प्राप्त कर लेते हैं। इस विषय में मनुस्मृति का एक श्लोक जिसे हम विना व्याख्या के ही छोड़ आये हैं, नीचे देते हैं—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताऽभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥[१]

१. मनुस्मृति २।१७६

यह श्लोक ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में है और इसमें उन सब बातों का वर्णन है जो ब्रह्मचारी को गुरु की सेवा में रहकर अपनी उन्नति के लिये करनी चाहिये और जिनका आगे के श्लोकों में भी सविस्तार वर्णन किया है। प्रथम अभिवादन व आदर सत्कार व सच्ची शिक्षा की वास्तविकता साधारण रूप से बताई गई है, अर्थात् प्रतिदिन स्नान करके शुद्ध-पवित्र होकर देव, ऋषि और पितृ अर्थात् गुणवान् व्यक्तियों की सेवा करे और उनके गुणों व दक्षता का चिन्तन-मनन करे जिससे उसके मन में उसी प्रकार के गुणों व प्रवीणता को प्राप्त करने की उमङ्ग उत्पन्न हो। शास्त्रों का सवेन अर्थात् स्वाध्याय करे और इन्द्रियों को वश में करे और यज्ञ करे।

मूर्ति-पूजन के खण्डन में हम बहुत कुछ लिख आये हैं। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस श्लोक से हमारी प्यारी सभा का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। हमारी प्यारी सभा ने श्राद्ध के बारे में एक प्रमाण मनुस्मृति का दिया है। वह यह है—

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान्।
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम्॥[१]

अर्थात् पितृयज्ञ से निवृत्त होकर अग्निहोत्री ब्राह्मण प्रत्येक मास की अमावस्या में पितरों का श्राद्ध करे। यह श्लोक स्पष्टतया मनुजी का कहा हुआ नहीं, परन्तु फिर भी इससे कुछ सिद्ध नहीं होता। यदि प्रत्येक मास में इस प्रकार का श्राद्ध—जिसका ऊपर वर्णन किया गया है—होम की भाँति विशेषता के साथ किया जाय तो कुछ हानि भी नहीं। हम किसी ऐसे कार्य के विरुद्ध नहीं जो एक उत्तम आदर्श स्थापित करने के उद्देश्य से ऐसे पूर्वजों की स्मृति में किया जाय जिनके महान् व्यक्तित्व से परमात्मा की प्रजा को धार्मिक व सांसारिक विषयों में लाभ पहुँचा हो अथवा पहुँचता हो। अन्यथा देश की धन-सम्पदा को ऐसे ही नष्ट करना तथा किसी विशेष जाति व सम्प्रदाय को किसी प्रकार का धार्मिक अथवा सांसारिक कार्य किये विना तथाकथित दान के रूप में निःशुल्क खिलाना-पिलाना तथा **धन लगाकर आलसी व प्रमादी बनाना राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार बहुत बड़ा अपराध है।**

१. मनुस्मृति ३। १२२

शेष एक-आध प्रमाण जो मनुस्मृति से और उद्धृत किया गया है उसके बारे में निब घिसाना व्यर्थ है, क्योंकि हम उसको प्रामाणिक नहीं मानते। वर्ष भर में जो पन्द्रह दिन श्राद्ध किये जाते हैं उनका कुछ वर्णन हमारी प्यारी सभा ने नहीं किया। अतः उनके सम्बन्ध में भी विचार करना व्यर्थ है। अब हम अपने कथन की पुष्टि में मनुस्मृति के चौथे अध्याय के तीन श्लोक नीचे उद्धृत करके इस विषय को समाप्त करते हैं और अपनी प्यारी जाति से अत्यन्त विनम्रता के साथ न्याय चाहते हैं—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥[१]

परलोक में माता, पिता, पुत्र, स्त्री व भाई-बन्धु इनमें से कोई भी सहायता नहीं कर सकता। केवल धर्म ही सहायक होता है (क्योंकि) मनुष्य अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है और अकेला ही अपने किये हुए शुभ-अशुभ कर्मों के फल को भोगता है। लकड़ी व मिट्टी के ढेले के समान मृत शरीर को धरती पर छोड़कर भाई-बन्धु पृथक् हो जाते हैं। केवल धर्म ही उसके संग जाता है।

इससे स्पष्ट है कि मरणोपरान्त मानव के स्वशुभ कर्म ही उसके सहायक होते हैं, किसी अन्य के किये हुए श्राद्ध इत्यादि से उसको कुछ भी लाभ नहीं होता। **सृष्टि में ऐसा कोई भी नियम नहीं पाया जाता कि एक के खाने से दूसरे की तृप्ति हो जाय। जो यहाँ कुछ नहीं करता, उस को आगे भी कुछ नहीं मिलता। अपना किया हुआ ही काम आता है।**

गंगा इत्यादि तीर्थों में स्नान और वास—गंगा आदि तीर्थों में स्नान व वास करने से पाप की निवृत्ति होती है अथवा नहीं? हमारी प्यारी सभा ने तीर्थ विषय में एक यह प्रमाण दिया है—

''सितासिते सरितौ यत्र संगते तत्र प्लुतासो दिवमुत् पतन्ति। ये

१. मनुस्मृति ४। २३९-२४१

वै तन्वा विसृजन्ति धीराः ते जनासोऽमृतत्वं भजन्ते। यत्र गंगा च यमुना च यत्र प्राची सरस्वती, इमम्मे गंगे यमुने इत्यादि। ''

इस वचन में जो गंगा आदि शब्द आये हैं उनको हमारी प्रिय सभा प्रसिद्ध नदियों के नाम से तीर्थ बताती है, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि शब्द सित व असित (श्वेत व काला) जो आरम्भ में विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं—वही हमारी इस प्रतिष्ठित सभा के कल्पित तीर्थों को झुठलाते हैं। वास्तव में गंगा आदि से अभिप्राय श्वास यन्त्र हैं; इनको इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा भी कहते हैं। ये योगसाधन की नाड़ियाँ हैं जिन्हें योगाभ्यासी जिज्ञासु प्राणायाम व ध्यान आदि द्वारा बीच की सीढ़ियों को पार करके मन की स्वच्छता प्राप्त करते हैं और समाधिस्थ होकर परमेश्वर का साक्षात् करते हैं। विचाराधीन वचन का अभिप्राय यह है कि जहाँ दो श्वेत व काली नदियों (इडा व पिङ्गला) का मेल होता है अर्थात् अन्धकार (विषयवासना के साम्राज्य) की सीमा समाप्त होकर ज्ञान का प्रकाश आरम्भ होता है, वहाँ अद्वैत की लहरों में डुबकी लगाकर योगी लोग ब्रह्मलोक में भ्रमण करते हैं और पवित्र योगमार्ग पर चलने वाले जो अभ्यासी सांसारिक विषयों का परित्याग करते हैं, वे शाश्वत आनन्द को प्राप्त करते हैं। वास्तव में ये बड़े तीर्थ हैं जो मनुष्यों की आत्माओं को पापों से विशुद्ध करके अनन्त आनन्द प्रदान करते हैं।

लब पे बन्दो चश्म बन्दो गोश बन्द।
गर न बीनी नूरे हक बर मन बख़न्द॥[१]

तीर्थ का अर्थ है तैराने वाला यन्त्र। नदियाँ तैराने का उपकरण नहीं मानी जा सकतीं प्रत्युत यदि डुबाने वाला कहो तो उचित ही है। सत्य शास्त्रों में तीर्थ से अभिप्राय परमेश्वर, गुरु, विचार, सत्य शास्त्र, भक्ति उपासना, योग इत्यादि हैं। और वास्तव में ये ही मुक्ति के साधन हैं। फिर यदि गंगा आदि शब्दों के यौगिक अर्थों की ओर ध्यान दिया जाये तो उनसे भी हमारे विचार की पुष्टि होती है। आश्चर्य तो यह है कि उनके समानार्थक इडा, पिङ्गला, सुषम्णा के यौगिक अर्थ भी क्रमशः लगभग

१. यह किसी सूफ़ी कवि का प्रसिद्ध फ़ारसी पद्य है। इसका अर्थ यह है कि हे भक्त! तू मुख को, आँखों को, कान को बन्द करके प्रभु का ध्यान कर यदि फिर भी ज्योतिस्वरूप का तुझे साक्षात्कार न हो तो मुझ पर हँसना। 'जिज्ञासु'

वैसे ही पाये जाते हैं। यही दशा रेचक, पूरक, कुम्भक आदि शब्दों की है जो योगदर्शन में प्रयुक्त हुए हैं। उनकी व्याख्या का यहाँ कोई लाभ नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति शब्दकोशों को देखकर अपनी सन्तुष्टि कर सकता है। यह बात भी वर्णन करने योग्य है कि पुराणों के अनुसार गंगा भागीरथ के समय से चली है। भागीरथ राजा सगर की तीसरी पीढ़ी में हुआ है और वह इसे अपने पितरों की मुक्ति के लिये स्वर्ग से लाया था और अपने निश्चय में सफल हुआ। यदि इस गाथा को सच माना जाय तो दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं। **एक यह कि जो लोग भागीरथ के काल से करोड़ों वर्ष पूर्व इधर-उधर मर चुके थे, उनकी क्या गति हुई? और यदि भागीरथ उसे अपने ही पितरों की मुक्ति के लिये लाया था तो उससे हमारा क्या सम्बन्ध है?**

इन मौलिक प्रश्नों का कोई उत्तर है?

दूसरा यह कि वेद जो सनातन माना जाता है उसमें गंगा शब्द उन अर्थों में जो उस पर चरितार्थ किये जाते हैं—क्योंकर प्रयुक्त हुए? सच्च बात यह है कि ये सब ढकोसले वेद-विरुद्ध हैं।

यह भी विदित हो कि विचाराधीन वचन **ऋग्वेद संहिता का है ही नहीं प्रत्युत उसके एक व्याख्यान का है।** सम्भवतः यही कारण है कि उसका अता-पता नहीं बताया गया।

हमारी प्यारी सभा ने तीर्थों के विषय में मनुस्मृति का यह श्लोक प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया है—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥[१]

हमें आश्चर्य होता है कि हमारी विदुषी सभा ने क्या समझकर इस श्लोक को तीर्थों का प्रमाण निश्चित किया है। यहाँ तो इसके विपरीत खण्डन पाया जाता है कि गंगा और कुरुक्षेत्र मत जाओ। यह वचन मनुस्मृति के आठवें अध्याय के उस स्थान का है जहाँ साक्षी के अतिरिक्त शपथ लेने व झूठ बोलने के दण्ड आदि का वर्णन है। इस श्लोक और इससे ऊपर के श्लोक में अगले पिछले श्लोकों के प्रसंग में साधारण

१. मनुस्मृति ८।८२

रूप में असत्य से बचने की प्रेरणा दी गई है। दोनों का अर्थ यह है—यदि तुम समझते हो कि मैं अकेला हूँ तो ऐसा नहीं है, क्योंकि तुम्हारे भीतर पाप व पुण्य को देखने वाला मुनीश्वर सदा विद्यमान रहता है। ऐसा जो पवित्र तेजःस्वरूप मूवक्कल [ईश्वर] तुम्हारे भीतर विद्यमान है, उसके साथ यदि तुम्हारा विवाद नहीं तो गंगा और कुरुक्षेत्र मत जाओ [अर्थात् उसके उपदेशानुसार चलो और झूठ न बोलो। यही मूल की बात है और गंगा आदि जाने से कुछ भी लाभ नहीं होता]।

इन बातों का धर्म से क्या सम्बन्ध है?—वास्तव में मुख्य अभिप्राय पहले ही श्लोक में आ जाता है और फिर उसी बात को दूसरे श्लोक में दोहराना व्यर्थ था। इससे प्रतीत होता है कि यह श्लोक मनुजी का कहा हुआ नहीं प्रत्युत उस काल का प्रक्षेप है जब कि स्वार्थ अथवा भ्रान्ति से कल्पित तीर्थों व मूर्ति-पूजन आदि को प्रचलित किया गया था। यह भी विदित रहे कि इस स्थान के अतिरिक्त सम्पूर्ण मनुस्मृति में कहीं भी गंगा का नाम नहीं आया है। भला जिस अवस्था में मनुजी ने छोटी-छोटी बातों के वर्णन में श्लोक के श्लोक लिख मारे हैं तो यह कल्पित तीर्थ-यात्रा और मूर्ति-पूजन [जिसका वर्तमान में इतना प्रचार है और जिसके कारण वास्तविक धर्म हम से विदा हो गया है] उसकी दृष्टि में विहित होता अथवा उस काल में इसका प्रचलन होता तो उसके सम्बन्ध में दो-चार श्लोक लिख देना कौन-सी बड़ी बात थी? वास्तव में मनुजी ने धर्म व मोक्ष के जो सिद्धान्त लिखे हैं, उनका ऐसी बातों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं।

भागवत में भी इनका खण्डन—इन कल्पित तीर्थों का तो भागवत जैसे ग्रन्थ में भी खण्डन पाया जाता है, जैसा कि हम ऊपर वर्णन कर आये हैं, अर्थात् **जो व्यक्ति जल को तीर्थ समझता है और ज्ञानियों को नहीं वह गधा है।** फिर देखो—

इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसा जनाः।
आत्मतीर्थं न जानन्ति कथं मुक्तिर्वरानने॥

अर्थात् यह तीर्थ है, वह तीर्थ है—अज्ञानी व तमोगुणी लोग ऐसा कहते फिरते हैं। वे आत्मा के तीर्थ को नहीं जानते। उनकी मुक्ति क्योंकर हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती।

इस विषय में अब और अधिक लिखना व्यर्थ है। केवल मनुजी का एक वचन, एक सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में नीचे लिखा जाता है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥[१]

अर्थ—जल से शरीर के अंग शुद्ध होते हैं। मन की शुद्धि सत्य से होती है। विद्या व उपासना से आत्मा पवित्र होती है। ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है।

यह श्लोक व्याख्या की आवश्यकता नहीं रखता। यदि गंगा-स्नान से पाप छूट सकते हैं और स्वर्ग मिल सकता है, तो उपासना आदि का कष्ट सहन करने की क्या आवश्यकता है? इधर हत्या की, चोरी की, व्यभिचार किया, उधर गंगा-स्नान किया, पवित्र हो गये और स्वर्ग में वास हो गया। पापों से छूटना तो क्या है, ऐसे विश्वास से तो उलटा पाप-कर्म करने के लिये प्रेरणा प्राप्त होती है। पापों का फल तो अवश्य भोगना ही पड़ता है।

आर्य का तृतीय उत्तर

अग्नि का अर्थ परमेश्वर भी है—**अग्निमीळे** इत्यादि।

हमारी प्यारी सभा कहती है कि इस मन्त्र में जो अग्नि शब्द आया है उससे जलाने वाली आग अभिप्रेत है, ईश्वर नहीं, पन्तु इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया गया कि यह शब्द कहीं भी परमेश्वर के अर्थों में नहीं आया है। यहाँ भी वही रथकार वाली युक्ति दी गई है, जिसका ऊपर खण्डन किया जा चुका है। हमारी समझ में तो जैसा प्रसंग होता है, वैसा ही अर्थ लिया जाता है। कोई निश्चित नियम लागू नहीं किया जा सकता कि सर्वत्र रूढ़ि अर्थ लिये जायें। अथवा सब स्थानों पर यौगिक अर्थ ही लिये जायें प्रत्युत व्याकरण में प्रायः उन अर्थों को प्राथमिकता दी जाती है जो व्याकरण के नियमों के अनुसार हों। अग्नि शब्द के रुढ़ि व यौगिक दोनों अर्थ लिये जाते हैं। इस शब्द के विषय में स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने अपने पुस्तक भ्रान्ति-निवारण और अन्य पुस्तकों में इतने विस्तार के साथ विवेचन किया है कि उससे सचाई का भली-भाँति प्रकाश हो जाता है। उस विवेचन को यहाँ दोहराना व्यर्थ है क्योंकि हमारी सभा ने

---

१. मनुस्मृति ५।१०९

उसका खण्डन नहीं किया। केवल एक-दो प्रमाण लिख देना ही पर्याप्त होगा—

अग्निर्द्रविणोदा-अश्वो-वायुः श्येनोऽश्विनौ षट् इति।[१]

अर्थात् अग्नि आदि छह शब्द ब्रह्म के पर्याय हैं।

ब्रह्म ह्यग्निः[२]**, आत्मा वाग्निः।**[३]

आर्य का चौथा उत्तर

अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः ज्यातिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत।

इस वचन से हमारी प्यारी सभा यह सिद्ध करना चाहती है कि अग्निहोत्र आदि होम कर्म से स्वर्ग प्राप्त होता है। यहाँ यदि स्वर्ग से अभिप्राय सुख-प्राप्ति है जैसा कि कोश में इस शब्द के अर्थ हैं तो हमें भी यह मान्य है, परन्तु यदि इससे कोई कहे कि यहाँ पौराणिक कल्पित विश्राम-स्थली अभिप्रेत है जहाँ अप्सरायें व सुन्दर लड़के (हूरें व ग़िल्मां) निवास करते हैं और जो विषय-वासना की तृप्ति का केन्द्र है तो इसको हम स्वीकार नहीं कर सकते। होम आदि से एकदम मुक्ति नहीं हो सकती। हाँ, यदि यह कहो कि होम से वायु और जल की शुद्धि और इस शुद्धि से नीरोगता और नीरोगता से सुख उत्पन्न होता है अथवा वेद-मन्त्र होम के अवसर पर बोले जाते हैं उनसे उपासना और प्रार्थना तथा प्रार्थना व उपासना से ईश्वर-प्राप्ति होती है तो निःसन्देह क्रमशः यह मुक्ति का कारण हो सकता है अथवा आत्मिक होम—अर्थात् इन्द्रियों का होम मन में और मन का आत्मा में और आत्मा का परमात्मा में जैसा कि सत्यशास्त्रों का मत है।

आर्य का पञ्चम उत्तर

वेद-निन्दक कौन?

ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कोटसाक्ष्यं सुहृद्वधः।
गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट्॥[४]

अर्थात् पढ़े हुए वेद का भूल जाना, वेद की निन्दा करना, झूठी साक्षी

१. निघण्टु अध्याय ५। २. शतपथ० १। २। ११।
३. शतपथ० २। ३। २ ४. मनुस्मृति ११।५६

देना, मित्र को पीड़ा पहुँचाना, निन्दित व अभक्ष्य पदार्थों का खाना, सुरापान—ये छह समान पातक हैं। हमारी सत्यान्वेषिणी सभा कहती है कि जो पाप मद्यपान करने वाले को होता है, वही पाप वेद-निन्दक को होता है। यह मान लिया—यह बुद्धि के अनुकूल बात है, परन्तु पता तो इस बात का करना है कि **वह वेद का अपमान करने वाला है कौन?** क्या स्वामी दयानन्द सरस्वती अथवा उनके विरोधियों का जमघट? इस बात का निर्णय करने के लिये यह आवश्यक है कि दोनों पक्षों के कुछ वचनों का यथार्थ रूप में उल्लेख किया जाय।

दोनों वेद को प्रामाणिक मानते हैं—विदित हो कि दोनों पक्ष वेद को प्रामाणिक व ईश्वरीय वाणी मानते हैं। विवाद तो यह है कि स्वामी दयानन्द केवल संहिता को वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों को उनके व्याख्यान कहते हैं। हमारी प्यारी सभा दोनों को सामूहिक रूप में वेद मानती है। स्वामी जी कहते हैं कि वेद में मूर्ति-पूजन, और परमेश्वर के अवतारों तथा मृतकों के श्राद्ध एवं गंगा आदि तीर्थों का कुछ उल्लेख नहीं है, प्रत्युत उनका प्रतिवाद पाया जाता है। हमारी प्रिय सभा इन बातों को वेदोपदेश से जोड़ती है तथा **शिवलिङ्ग, शालिग्राम आदि की पूजा को एक सिद्धान्त बताती है।**

ऋषि दयानन्द क्या सिखाते हैं?—स्वामी जी वेद के सिद्धान्त के अनुसार ईशोपासना सिखाते हैं और हमारी प्रिय सभा प्रकृति पूजा की शिक्षा देती है। स्वामी जी वेद को स्वतः प्रमाण व अन्य ग्रन्थों को परतः प्रमाण मानते हैं और हमारी प्रिय सभा समस्त शास्त्रों व अन्य ग्रन्थों को वेद सरीखा (वेद के समान) मानती है। स्वामी जी समस्त धार्मिक व सामाजिक विषयों में बुद्धि का हस्तक्षेप समुचित मानते हैं और हमारी प्यारी सभा बुद्धि के पाँवों में शास्त्राज्ञा की बन्धन रूपी कड़ियाँ डाले रखना चाहती है। स्वामी जी कहते हैं कि वेद के पठन-पाठन का समस्त मानव जाति को समान अधिकार है और हमारी प्रिय सभा इसे अपनी निजी पैतृक सम्पदा समझती है। इन सब बातों पर ऊपर सविस्तार विचार हो चुका है और यहाँ उसको दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

अब हम इस बात का निर्णय कि वेद का अपमान करने का दोषी कौन ठहरता है, अपने न्यायप्रिय पाठकों पर ही छोड़ते हैं और इस विषय को इस प्रार्थना के साथ समाप्त करते हैं कि हे परमात्मन्! तू अपनी महती

कृपा से समस्त मानवजाति को तथा विशेष रूप से भारतवर्ष को **बुद्धि की वह ज्योति प्रदान कर जिसके लिये तेरे वेद के बीज-मन्त्र गायत्री में प्रार्थना की गई है ताकि अज्ञानता व अनेकेश्वरवाद का अन्धेरा दूर होकर तेरे ईश्वरत्व व एकेश्वरवाद का प्रकाश प्रस्फुटित हो** तथा उलझे हुए विचारों और कल्पित भ्रमों के स्थान पर एकता व सचाई की तरंगें मन में उठें। ओ३म् शम्—**सीन०**[१]

एक सामान्य निष्कर्ष

इस सभा के आयोजन का समाचार सुनकर हमें अत्यन्त प्रसन्नता हुई थी। हमें आशा थी कि वह यथा नाम तथा गुण सिद्ध होगी। दूध का दूध और पानी का पानी कर दिखायेगी। वेदशास्त्रों के अतिसूक्ष्म प्रश्नों का समाधान करेगी, जिसका परिणाम इस रोगग्रस्त देश की दयनीय दशा के लिये स्वास्थ्यप्रद व रोगनिवारक सिद्ध होगा। यही विचार था कि आर्यधर्म की उन्नति व दृढ़ता के लिये कोई बुद्धियुक्त सुझाव देगी जिससे हमारे प्राचीन ऋषियों-मुनियों की कीर्त्ति व प्रसिद्धि का नगाड़ा फिर से बजेगा और उनके निष्प्राण वंशजों में पुनः नवजीवन का सञ्चार होगा। हमारी ये आशायें व धारणायें कुछ भी अनुचित नहीं थीं, क्योंकि यह कब अनुमान लगाया जा सकता था कि इतनी बड़ी सभा केवल **एक व्यक्ति के वचनों के खण्डन के लिये ही बुलाई गई है तथा उसमें सच्चे धर्म तथा जातीय सुधार पर विचार-विमर्श तक नहीं होगा।**

सब आशायें मिट्टी में मिल गईं—परन्तु हाय रे भारत की दुर्दशा! हम तो कुछ समझे थे, वह सब ग़लत सिद्ध हुआ। सभा की कार्यवाही देखकर हमारी सब आशायें टूट गईं। पहले-पहले तो हम कुछ पत्र-पत्रिकाओं में इस सभा की कार्यवाही के कुछ समाचार पढ़ते रहे, परन्तु कोई विशेष सम्मति बनाने के लिये सामग्री नहीं मिली। वास्तविक स्थिति की जानकारी के लिये हमारी उत्सुकता पूर्ववत् बनी रही कि इतने में अकस्मात् 'आर्य-दर्पण' मासिक शाहजहाँपुर हमारी दृष्टि से निकला। उसमें हमारी सत्यान्वेषणी सभा की सारी कार्यवाही का निष्कर्ष प्रकाशित हुआ है। हम गद्गद् हो गये। बड़े ध्यान से इसे पढ़ा। हम आश्चर्यचकित

१. पुस्तक में कहीं भी लेखक तो अपना नाम नहीं दिया। उर्दू के इस सीन अक्षर (स) से लेखक का नाम साईंदास अभिप्रेत है। —'जिज्ञासु'

रह गये कि तीन सौ प्रकाण्ड पण्डितों की सभा और यह कार्यवाही! उलट-पुलट कर देखा तो कुछ ऐसे विद्वानों द्वारा पुष्टि पाई गई जिनके पाण्डित्य का एक ज़माना कायल है और जिनके बारे में हम भी कुछ-कुछ जानते हैं, फिर तो और भी दंग रह गये। एक प्रकार से हम स्तब्ध से रह गये। **अन्ततः कुछ सम्भले, बुद्धि ने समझाया कि विद्वत्ता और बात है, और सच्चाई की पहचान और बात है। प्रसिद्धि और बात है, और सत्यनिष्ठा और ही बात है।** भारत में किसी प्रस्ताव अथवा व्यवस्था पर हस्ताक्षर करवा लेना कुछ बड़ी बात नहीं और विशेषरूप से ऐसी सभा के प्रस्तावों पर जिसमें जाति के नेताओं की इतनी बड़ी संख्या सम्मिलित हो। वास्तव में किसी निर्णय अथवा प्रस्ताव को उसकी वास्तविकता व सारी कार्यवाही पर विना विचार किये केवल बड़े-बड़ों के हस्ताक्षर देखकर स्वीकार कर लेना सर्वथा भूल (पाप) है। ठीक-ठीक निष्कर्ष तो तभी निकल सकता है जब कि उसके सच, झूठ और गुण-दोषों के विषय में सब पहलुओं पर विचार करके अपनी सम्मति दी जाय।

इस सभा की आवश्यकता ही क्या थी?

सभा की कार्यवाही देखकर इस अभागे देश के भविष्य के सम्बन्ध में कई प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं और जिन देश-भक्तों को अपने देश व जाति की भलाई की कुछ भी चिन्ता है वे निःसन्देह हमारे साथ सहमत होंगे कि केवल एक व्यक्ति के विचारों के प्रतिवाद के लिये **पुष्कल धन व्यय करके तीन सौ पण्डितों की सभा का आयोजन करने की क्या आवश्यकता थी?** क्या प्रतिमा-पूजन कहीं भाग चला था कि उसके लिये इतनी भाग-दौड़ की गई? वह कहाँ भाग सकता था? उसके लिये भारत से बाहर स्थान भी कहाँ है? वह (मूर्त्ति-पूजा) तो भारत की हड्डियों में रच गई है। यदि उसकी चिन्ता थी तो वह तो घर पर बैठे भी हो सकती थी जैसे कि अन्य लोग कर रहे हैं।

देश जाति के लिये क्या किया?

हम पूछते हैं कि देश व जाति की भलाई व सुधार के लिये इस सभा ने क्या कार्य किया? और यदि इतनी बृहत् सभा ने कोई ऐसा कार्य नहीं किया तो इस अभागे देश की दुर्दशा पर अश्रुपात करने के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। ऐ वृद्ध भारत माता! जब तेरे पुत्रों की इतनी बड़ी

विद्वत् सभा ने तेरे कल्याण के लिये कोई उपाय नहीं सोचा और तेरे बुढ़ापे पर दया नहीं की तो अब तेरे लिये क्या आशा शेष बची रही? हे भारत माता! किसी समय तू बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियों की माँ थी जिनके लिये जगत् पिता की आज्ञा का पालन व तेरा हितचिन्तन ही दृष्टिगत रहता था। हाय! वे तेरे प्यारे बच्चे कहाँ गये? जो तेरी पीड़ा को तनिक भी सहन नहीं कर सकते थे और जिन पर तू आज पर्यन्त अभिमान कर रही है? वह युग कहाँ गया जब तेरे सत्यनिष्ठ व पवित्र पुत्र ब्रह्म विद्या की सूक्ष्म बातों, ब्रह्माण्ड के रहस्यों व मोक्ष के स्वरूप की व्याख्या करने व समझाने, बताने में अपना अमूल्य समय लगाया करते थे तथा एक सच्चिदानन्द सर्वशक्तिमान् परमात्मा के अतिरिक्त किसी और के सामने शीश नहीं झुकाते थे। क्या तू अब आर्यावर्त्त नहीं रही? कुछ और बन गई है? प्रकट रूप में तो अवस्था के परिवर्तन के कोई लक्षण नहीं दीख रहे फिर क्या समझा जाय? यह मौत-सी क्यों छा गई है।

ब्रह्मविद्या का स्थान मूर्त्तिविद्या ने ले लिया।

ब्रह्मविद्या के स्थान पर यह मूर्त्तिविद्या कहाँ से आ गई? वेद के स्थान पर इन झूठे किस्से-कहानियों का प्रचलन क्योंकर हो गया? योग-सागर की तरङ्गों के स्थान पर ये नदियों की धारें क्योंकर नाजी (मुक्तिदाता) बन गईं? जीवित पितरों की आज्ञा का पालन व सेवा-शुश्रूषा तजकर यह मृतकों का पूजन कहाँ से निकल आया? हाय प्यारे आर्यावर्त्त! इसमें तेरा कोई दोष नहीं। तू तो वही है जो पहले था। यह सारा दोष तेरे कृतघ्न, अवज्ञाकारी पुत्रों का है जो तेरी ईश्वरीय देनों, प्राकृतिक उपहारों तथा ईश्वरप्रदत महिमा पर अभिमान के कारण मार्ग भ्रष्ट हो गये तथा कला कौशल एवं सद्धर्म को तजकर व्यर्थ की बातों में पड़ गये। यह सारी गड़बड़ ईश्वरीय देन से विमुख होने का ही परिणाम है। फिर अब क्या होगा? क्या यह तेरा बुढ़ापा रोने-धोने में ही व्यतीत होगा? नहीं, निराश मत हो। करुणासागर की करुणा कष्ट के पश्चात् अवश्य बरसती है। बिगाड़ के पश्चात् सुधार भी होता है। शुद्ध-पवित्र पालक प्रभु ने तेरे बुढ़ापे पर—निर्बलता पर दया करके तेरे प्राचीन वैभव व कीर्ति की पुनः स्थापना के लिये तेरी सन्तान में से एक योगी महर्षि जन उत्पन कर दिया है और यह तेरा वह सौभाग्यशाली सुपूत इस बात के लिये समर्पित है कि यदि

आवश्यकता पड़ी तो ब्रह्मलोक से अमृत की गंगा लाने को भी तत्पर है। यद्यपि उसके मार्ग में कई रुकावटें हैं, परन्तु वह नर-नाहर घबराने वाला नहीं। इसके अतिरिक्त वर्तमान सरकार का शासनकाल भी तेरे लिये एक ईश्वरीय कृपा का उदाहरण सिद्ध हुआ है जिसने तेरी मरुभूमि में शान्ति व स्वतन्त्रता की नदी प्रवाहित कर दी है[१], परन्तु स्मरण रहे कि अन्ततः इन सब बातों से लाभान्वित होना तेरी सन्तान का ही काम है।

ऋषि दयानन्द का दोष है तो बस यह—मैं चकित हूँ कि तेरे बच्चे दयानन्द से क्यों घबराते हैं? और काल की चाल को क्यों नहीं समझते। समय तो गिरगिट के समान रंग बदलता है और काल की गति के साथ अपनी गति भी न बदली जाय तो तिरस्कार विनाश के अतिरिक्त और क्या परिणाम हो सकता है? शिक्षा ने विश्वास-मान्यतायें बदल दी हैं। लोग प्रचलित धर्म से दूर हो गये हैं और इसे छोड़ते जा रहे हैं और वेद-शास्त्र का परित्याग कर रहे हैं। ऐसे समय में यदि दयानन्द का कोई दोष है तो बस यह कि वह उनको पुनः सनातन वेदोक्त धर्म की ओर लाया है और ला रहा है। क्या यह अपराध ऐसा है कि इस कारण से उसके विरुद्ध अधर्मी होने की व्यवस्था दी जाय?

सृष्टि-नियम अटल—ये नहीं बदलेंगे—ऐ आर्यावर्त्त के पुत्रो! आओ तुम सृष्टि के नियमों व मर्यादा को समझो। सृष्टि का विधि-विधान व व्यवस्था तो बदल नहीं सकते और न तुम्हारे लिये यह बदला जा सकता है। जिस नींव पर (जिन कारणों से) तुम्हारा पतन हुआ है, उसी नींव पर (उन कारणों व दोषों के रहते हुए) तुम्हारा फिर से उत्थान नहीं हो सकता। वह नींव तो खोखली हो चुकी है। उससे तो तुम्हारा सङ्कट बना ही रहेगा। आओ! समझो! उस नींव को जड़ से उखाड़कर उसके स्थान पर नई नींव पर निर्माण करो और फिर उस पर एक भव्य भवन खड़ा किया जा सकता है। वह नई नींव है सद्धर्म। इसी सद्धर्म पर आत्मिक शक्तियों का विकास सम्भव है और आत्मिक शक्तियों की उन्नति के विना कोई भी राष्ट्र व जाति हरे-भरे नहीं हो सकते। सृष्टि-नियन्ता ने (परमेश्वर ने) आत्मा को प्रकृति पर प्रभुत्व प्रदान कर रखा है। आत्मा शासक है

---

१. यहाँ अंग्रेज़ी राज में—मुसलमानी शासन की तुलना में धार्मिक स्वतन्त्रता को वरदान व शुभ अवसर बताया गया है। —'जिज्ञासु'

और प्रकृति शासित (जड़ होने से)। शासक व शासित में परस्पर का एक विशेष सम्बन्ध होता है। जब इस सम्बन्ध में परस्पर का व्यवहार अच्छा नहीं होता तो व्यवस्था में गड़बड़ होती है तथा यह विघ्न विनाश व पतन का कारण है। जहाँ आत्मा शासक बनने की बजाय शासित (प्रजा) बनी हुई है, वहाँ तनिक दृष्टि डालकर तो देखो कि क्या-क्या बिगाड़ हो रहे हैं। स्मरण रखिये कि प्रकृति की पूजा से आत्मा में कदापि राजकीय शान्ति उत्पन्न नहीं हो सकती प्रत्युत वह तो दीनहीन, विना मीत-बन्धु व सहायक, पंखविहीन डोलती फिरती रहती है।

देव-असुर संग्राम चलता रहता है—देव-असुर संग्राम, अर्थात् विद्या और अविद्या का संघर्ष सदा से चला आता है। जहाँ विद्या की प्रमुखता है, वहाँ स्वतन्त्रता व समृद्धि है। जहाँ अविद्या का हस्तक्षेप है, वहाँ बिगाड़ व दुर्दशा है। भारत में अविद्या अधिक है, और इस कारण दु:ख अधिक है। आजकल अविद्या व विद्या में बहुत संग्राम हो रहा है। लम्बे समय से विद्या परास्त होकर अविद्या की दासी बन गई थी अब उसने कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त कर फिर से सिर उठाया है। यद्यपि अविद्या अपने पुराने दास को (अधीनस्थ को) अपने नियन्त्रण में रखने के लिये बहुत कुछ हाथ-पाँव मार रही है, परन्तु विद्या प्रबल हो रही है, उसको प्रबल समर्थन प्राप्त है। अब वह उसके वश में नहीं रही। विद्या प्रत्येक कार्य में सन्तुलन चाहती है तथा संयत रहना नीति का एक स्वर्णिम सिद्धान्त है। यह लौकिक व पारलौकिक बरकतों (वरों) की खान है। अज्ञानता का आधिक्य व ज्ञान का अभाव हैं और ये दोनों बुरे हैं—अभिशाप हैं। यद्यपि कई बार जोश से भी महान् कार्य सिद्ध होते हैं, परन्तु उत्तेजना की यह विशेषता है कि वह दूध के उबाल के समान प्राय: चुपके-सा बैठ जाया करता है और उसमें भय भी होता है। कभी-कभी प्रतिपक्षी को जोश के कारण अनुचित उत्तेजना होती है, जिससे कई बार सुधार कार्य की बहुत क्षति होती है। बड़े-बड़े कार्य अधूरे रह जाते हैं अथवा उनके सम्पन्न होने में वर्षों का विलम्ब हो जाता है। कभी-कभी यह होता है कि जैसे नदी की बाढ़ दूर-दूर तक खेतों को सींच कर उसमें शक्तिवर्द्धक तत्त्व छोड़ जाती है, वैसे ही जोश जाति में नवजीवन का सञ्चार कर जाता है तथापि जातीय जोश हो अथवा धार्मिक उत्तेजना—ये सब बुद्धि द्वारा संयत होने चाहियें। प्रत्येक कार्य में अनुचित व्यवहार

दु:ख का अग्रगामी होता है। यदि पुण्य भी अनुमान से बाहर निकल जाय और अनुचित ढंग से असामयिक होगा तो बिगाड़ ही पैदा करता है।

दान की दुर्गति से पाप ही बढ़ा—हम दान के विरोधी नहीं, परन्तु जिस प्रकार से हमारे देश में दान-पुण्य किया जाता है, वह बहुत कुछ दान का अनुचित व्यवहार है। देश के करोड़ों रुपये आपत्तिजनक कार्यों व ऐसे लोगों के पालन में व्यय किये जाते हैं जिनके जीवन से देश को किञ्चित् भी लाभ नहीं पहुँचता। यदि वही धन विद्या, कला-कौशल व लोकोपकार के कार्यों में व्यय किया जाय तो देश की शोभा भी हो और दान-पुण्य का प्रयोजन भी सिद्ध हो। आम के आम गुठली के दाम।

सत्याचरण से उत्थान—सत्यभाषण—सदाचार जाति का उत्थान करता है। कुटिलता पतन के गर्त में डालती है। भारत में सत्याचरण थोड़ा है, इसलिये देश की दुर्दशा है। छल-कपट व झूठ से आत्मा अपवित्र होती है और मलिन आत्मा देश पर एक धब्बा है और उससे शरारत व गड़बड़ के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। जो स्वयं अपवित्र हैं, वे औरों को श्रेष्ठ व पवित्र नहीं बना सकते। भलाई वे ही कर सकते हैं, जिनके हृदय ज्योतित हैं। अविद्या की धाँधलियों पर वे ही विजय प्राप्त कर सकते हैं, जिनमें धीरज है। घृणा से घृणा उत्पन्न होती है। स्नेह से घृणा दूर होती है। यह सिद्धान्त सर्वमान्य है और इस नियम के अनुसार यद्यपि भारत की अवस्था इस समय अत्यन्त शोचनीय है, परन्तु अभी अन्तिम श्वास शेष बचे हैं और उसके मुख से धीरे-धीरे यह अवाज़ आ रही है, ''पुत्रो! रोगी माता की सुधि लो। अभी वह जीवित है। उसके प्रयोग के लिये प्रेम व सत्याचरण का सुखदायक च्यवनप्राश तैयार करो ताकि उसके सेवन से स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करके तुम्हें आशीर्वाद दे।'' प्रेम व सत्याचरण निश्चय से धर्म व नैतिकता की जान है और उसके विना कभी भी किसी जाति को सच्चा बड़प्पन व सच्चा जीवन प्राप्त नहीं हो सकता। जो लोग छोटी-छोटी बातों पर रुष्ट अथवा तुष्ट हो जाते हैं, प्रतिक्षण रंग बदलते रहते हैं, पेट के हल्के हैं, किसी बात को पचा नहीं पाते, थोड़ी-सी निन्दा या कष्ट मिलने पर झट उछल पड़ते हैं—उनसे क्या आशा की जा सकती है। और वे सुधार की बात कह ही क्या सकते हैं। महान् कार्य महान् साहसी आत्माओं के भाग्य में ही होते हैं। झट से क्रोधित हो जाना, चित्त की चञ्चलता, साहस का अभाव तो बच्चों, बूढ़ों, रोगियों व निर्बलों के

लक्षण हैं।

सुधार व बिगाड़ की दो शक्तियाँ—धर्म, नैतिकता व सामाजिक दृष्टि से भारत की अवस्था डाँवाडोल है। ऐसी स्थिति में सुधार और बिगाड़ दोनों की सम्भावना है। इस समय परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों की दो प्रबल शक्तियाँ आगे बढ़ रही हैं और अपना-अपना प्रभुत्व जमा रही हैं। इधर तो सुधार की धूमधाम है और उधर बिगाड़ ने शोर मचा रखा है। सुधार सच्चे विश्वास व सच्ची सभ्यता का सन्देश दे रहा है। बिगाड़ मतान्धता, पूर्वाग्रह व झूठे विश्वास के चक्कर में रखना चाहता है। सुधार-आन्दोलन के कारण सतीत्व, शुद्धाचरण, संयत जीवन की सत्प्रेरणा हो रही है। बिगाड़ की छत्रछाया में दुराचार, दुष्कर्म, सुरापान एक भयानक गति से बढ़ते जा रहे हैं। इधर विद्या-ज्ञान से मन व मस्तिष्क आलोकित हो रहा है, उधर भंग, चरस, गाँजा, चण्डू इत्यादि के सेवन से आत्मिक शक्तियाँ भीतर ही भीतर सड़ती चली जाती हैं। इधर निर्दयता, कृतघ्नता, छल-कपट, अहंकार, विश्वासघात, दुर्भावना, उपेक्षा, दिल दुखाने आदि दुर्गुणों का प्रभुत्व हो रहा है, तो उधर करुणा, सत्यनिष्ठा, सच्चाई, सरलता, विश्वसनीयता, सद्भावना, सहानुभूति, सहृदयता की नन्हीं-नन्हीं और मीठी-मीठी तान सुनाई दे रही है। सुधार संघर्ष पर आश्रित है। बिगाड़ का यह स्वभाव है कि स्वयं ही बढ़ता चला जाता है। यह एक विचित्र उधेड़बुन तथा भय एवं आशा की स्थिति है, जिसमें जाति डाँवाडोल हो रही है।